

20-21



महावीर जयन्ती 2598

जैनविद्या

अकलंक विशेषांक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

राजस्थान

जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी द्वारा प्रकाशित

वार्षिक

शोध-पत्रिका

अप्रैल, 1999-2000

सम्पादक मण्डल
श्री नवीनकुमार बज
श्री महेन्द्रकुमार पाटनी
डॉ. कैलाशचन्द्र जैन
श्री ज्ञानचन्द्र बिल्टीवाला

प्रबन्ध सम्पादक
श्री प्रकाशचन्द्र जैन
मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादक
डॉ. कमलचन्द्र सोगाणी
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका
डॉ. गोपीचन्द्र पाटनी

सहायक सम्पादक
सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक

जैनविद्या संस्थान

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

वार्षिक मूल्य

30.00 रु. सामान्यतः

60.00 रु. पुस्तकालय हेतु

मुद्रक

जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.

जयपुर

विषय-सूची

क्र.सं. विषय	लेखक का नाम	पृ. सं.
प्रकाशकीय		
सम्पादकीय		
1. स्वामी भट्टाकलंकदेव - व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व	श्री कुन्दनलाल जैन	1
2. भावना	आचार्य अकलंकदेव	12
3. जिनशासन के प्रभावक आचार्य अकलंक	श्री रमाकान्त जैन	13
4. व्रती	आचार्य अकलंकदेव	24
5. अनेक अलंकरणों से अलंकृत आचार्य अकलंकदेव	डॉ. कपूरचन्द जैन	25
6. ध्यान	आचार्य अकलंकदेव	30
7. जैन-न्याय के उन्नायक : भट्ट अकलंकदेव	डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल	31
8. हिंसा	आचार्य अकलंकदेव	46
9. अनेकान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव	डॉ. अशोककुमार जैन	47
10. आचार्य अकलंकदेव और उनका नय-विवेचन	डॉ. श्रीरंजनसूरिदेव	57
11. अकलंकदेव की कृति-तत्त्वार्थवार्तिक	डॉ. रमेशचन्द जैन	63
12. आस्रव के कारण	आचार्य अकलंकदेव	78
13. तत्त्वार्थराजवार्तिक और कर्मबन्ध के प्रत्यय	डॉ. कुसुम पटोरिया	79
14. 'तत्त्वार्थवार्तिक' में प्रतिपादित मानवीय मूल्य	डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन 'भारती'	83
15. अकलंकदेव कृत पुण्य और पाप का विवेचन	डॉ. सूरजमुखी जैन	93
16. वैयावृत्य	आचार्य अकलंकदेव	100
17. द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु ज्ञान का विषय	डॉ. राजकुमारी जैन	101

जैनविद्या

(शोध-पत्रिका)

सूचनाएँ

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में एक बार, महावीर जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित होगी।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसंधान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएँ जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जाएगा। स्वभावतः तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा।
4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हो।
5. रचनाएँ कागज के एक ओर कम से कम 3 से.मी. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।
6. अस्वीकृत/अप्रकाशित रचनाएँ लौटाई नहीं जायेंगी।
7. रचनाएँ भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता —

सम्पादक

जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी

सवाई रामसिंह रोड

जयपुर-302 004

प्रकाशकीय

‘जैनविद्या’ शोध पत्रिका का ‘अकलंक विशेषांक’ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हर्ष है।

अकलंकदेव जैनधर्म के प्रखर तार्किक व दार्शनिक आचार्य थे। अकलंकदेव ने आठवीं सदी (720-780 ई.) के अन्त में तत्कालीन सभी दर्शनों के दार्शनिकों/मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ, वाद-विवाद व समीक्षा कर जैनदर्शन के सिद्धान्तों की प्रतिष्ठापना की।

अकलंकदेव ने आचार्य समन्तभद्र की कृति ‘देवागम स्तोत्र’ पर ‘अष्टशती’ तथा आचार्य उमास्वामी की कृति ‘तत्त्वार्थसूत्र’ पर ‘तत्त्वार्थवार्तिक’ भाष्य लिखे। लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, प्रमाण संग्रह, सिद्धिविनिश्चय उनके मौलिक ग्रन्थ हैं। इनकी रचना कर उन्होंने जैन-न्याय का भव्य प्रासाद निर्मित किया।

जैन न्याय-जगत में अकलंक अपनी प्रमाण-मीमांसा के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। परवर्ती आचार्यों ने अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियों में अकलंकदेव का सम्मानसहित स्मरण किया है, अनेक शिलालेख उनकी विरुदावलि से विभूषित हैं।

जिन विद्वानों ने अपनी रचनाओं के द्वारा इस अंक के प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया उन सभी के प्रति आभारी हैं।

पत्रिका के सम्पादक, सम्पादक मण्डल के सदस्यगण, सहयोगी सम्पादक सभी धन्यवादाई हैं।

प्रकाशचन्द्र जैन
मंत्री

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

प्रबन्धकारिणी कमेटी,
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादकीय

“श्रीमद्भट्टकलंकदेव स्वामी का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व भारतीय वाङ्मय के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में उल्लेखनीय है, उन्होंने जैनशासन तथा जैनन्याय के क्षेत्र में मौलिक उपलब्धियाँ प्राप्त कीं तथा दुरूह और प्रामाणिक ग्रंथों की रचना कर भगवती-भारती के भण्डार को समृद्ध और सम्पन्न किया है।”

“श्री अकलंकदेव का प्रामाणिक विशद जीवन-परिचय उनके ग्रंथों में कहीं नहीं मिलता।”

“जैन परम्परा में अकलंक नाम के लगभग दो दर्जन आचार्य, विद्वान्, मुनि हुए हैं जिनका परिचय-विवरण डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने अपने जैन ज्योति ऐतिहासिक व्यक्तिकोश - प्रथम खण्ड में दिया है। उनमें क्रमांक प्रथम पर उल्लिखित अकलंकदेव 7वीं शती ईस्वी को छोड़कर शेष अकलंक 11वीं शती के उपरान्त के विद्वान हैं।”

“श्री अकलंकदेव के व्यक्तित्व एवं जीवन-परिचय के कोई स्पष्ट सुनिश्चित साधन तो हैं नहीं, पर कुछ शिलालेखों तथा कुछ ग्रंथ-प्रशस्तियों के आधार पर उनका समय सन् 720 से 780 ई. तक सुनिश्चित होता है।”

“अकलंकदेव जैन, बौद्ध और अन्य दर्शनों के निष्णात विद्वान थे। उन्होंने विभिन्न स्थानों पर जैनधर्म के अनेकान्तवाद अहिंसा आदि सिद्धान्तों की ध्वजा फहराई और अपनी उदारता-सदाशयता का परिचय दिया।”

“उन्होंने दिग्विजयी शास्त्रार्थी और प्रखर तार्किक आचार्य समन्तभद्र (ईसा की द्वितीय शती) की शास्त्रार्थ-परम्परा को ततोऽधिक समृद्ध किया था। वे जैनन्याय के समानान्तर बौद्धन्याय के भी पारगामी विद्वान थे।”

“उन्होंने बौद्ध दर्शन का गहन अध्ययन किया था। साथ ही अन्य भारतीय दर्शनों का उन्हें प्रगाढ़ ज्ञान था, वे पूर्ववर्ती जैनाचार्यों के साहित्य से भलीभाँति परिचित थे।”

“अकलंकदेव दर्शनशास्त्र के गूढ़ अध्येता थे। उन्होंने षट्दर्शन का गंभीर अध्ययन-चिन्तन कर तर्क और युक्ति से जैन-दर्शन की श्रेष्ठता, समीचीनता और आत्मकल्याण हेतु उसकी उपादेयता सशक्तरूप से सिद्ध की। यद्यपि वे मूलतः तार्किक-दार्शनिक थे फिर भी उन्हें जैन सिद्धान्त, न्याय और आगम पर पूर्ण अधिकार था। गहन विषयों को सहज-सरल करने हेतु उन्होंने व्यंगात्मक शैली भी अपनायी। उनकी भाषा छन्द, अलंकार, व्याकरण, शब्द-सामर्थ्य आदि अद्भुत थी। वे वार्तिककार के साथ ही सफल व्याख्याकार-भाष्यकार भी थे।”

“अकलंकदेव व्याकरण शास्त्र के महान् विद्वान् थे। पाणिनीय व्याकरण तथा जैनेन्द्र व्याकरण का उन्होंने भली-भाँति पारायण किया था। व्युत्पत्ति और कोश-ग्रंथों का उनका अच्छा अध्ययन था। तत्त्वार्थवार्तिक में स्थान-स्थान पर सूत्रों एवं उसमें आगत शब्दों का जब वे व्याकरण की दृष्टि से औचित्य सिद्ध करते हैं तब ऐसा लगता है जैसे वे शब्दशास्त्र लिख रहे हों।”

“अकलंकदेव के समय के सन्दर्भ में न केवल भारतीय विद्वानों अपितु पाश्चात्य विद्वानों ने भी पर्याप्त गवेषणा की है। विदेशी विद्वानों में डॉ. पीटर्सन, डॉ. लुइस राईस, डॉ. एम. विन्टरनित्ज, डॉ. ए. वी. कीथ, डॉ. एफ. डब्ल्यू थामस के नाम उल्लेखनीय हैं।”

“अकलंकदेव का कर्तृत्व अति महान, दुरूह एवं गहन-गंभीर है। इनके द्वारा रचित - 1. तत्त्वार्थराजवार्तिक भाष्य, 2. अष्टशती, 3. लघीयस्त्रय संविवृत्ति, 4. न्यायविनिश्चय सवृत्ति, 5. सिद्धिविनिश्चय, 6. प्रमाण संग्रह स्वोपज्ञ।”

“आचार्य अकलंकदेव की कृतियों में तत्त्वार्थवार्तिक (अपरनाम तत्त्वार्थवार्तिक व्याख्यानकार, राजवार्तिक या तत्त्वार्थ राजवार्तिक), अष्टशती, लघीयस्त्रय (स्ववृत्ति सहित), न्याय विनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय (सवृत्ति) प्रमाण संग्रह उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त स्वरूप-संबोधन, अकलंक स्तोत्र, अकलंक प्रतिष्ठा पाठ, अकलंक प्रायश्चित्त उपलब्ध हैं किन्तु ये विवादग्रस्त कृतियाँ हैं।”

“वर्तमान शती में अकलंक की प्रायः सभी कृतियों का अधिकारी विद्वानों द्वारा कुशल-सम्पादन और प्रकाशन हो चुका है। इनकी कृतियाँ इनकी अद्वितीय प्रतिभा, अगाधविद्वत्ता, प्रौढ़ लेखनी, गूढ़ अभिसंधि, अपूर्व तार्किकता एवं वाग्मिता, जैन दर्शन की प्रभावना की उत्कट अभिलाषा, उदात्त कारुण्य भाव, अनेकान्त दर्शन पर उनके पूर्ण अधिकार, जैनतर दार्शनिक साहित्य के गंभीर आलोडन और जैन सिद्धान्त, संस्कृत भाषा एवं व्याकरण में विचक्षण पाण्डित्य की परिचायक हैं।”

“‘तत्त्वार्थवार्तिक’ तत्त्वार्थसूत्र पर अकलंकदेव द्वारा अतिगहन, प्रखर दार्शनिकता और प्रौढ़ शैली में लिखी गई कृति है। इसे ‘तत्त्वार्थराजवार्तिक’ अथवा ‘राजवार्तिक’ के नाम से भी जाना जाता है। अकलंकदेव द्वारा तत्त्वार्थवार्तिक में दिये गये वार्तिक प्रायः सरल हैं परन्तु उनका व्याख्यान कठिन है।”

“इस ग्रन्थ में भट्ट अकलंकदेव के दार्शनिक, सैद्धान्तिक और वैयाकरण तीन रूप उपलब्ध होते हैं।”

“‘तत्त्वार्थवार्तिक’ में न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, सांख्य, मीमांसा तथा चार्वाक मतों की समीक्षा प्राप्त होती है। अकलंकदेव का उद्देश्य इन दर्शनों की समीक्षा के साथ-साथ इनके प्रहारों से जैन तत्त्वज्ञान की रक्षा करना भी रहा है। इसमें वे पर्याप्त सफल भी हुए हैं। उन्होंने जैनन्याय की ऐसी शैली को जन्म दिया जिसके प्रति बहुमान रखने के कारण परवर्ती जैन ग्रन्थकार इसको ‘अकलंक न्याय’ के नाम से अभिहित करते हैं।”

“अकलंकदेव जैन सिद्धान्त एवं आगम के मर्मज्ञ विद्वान होने के साथ ही गूढ़ दार्शनिक और तार्किक थे। तत्त्वार्थवार्तिक में सर्वत्र अकलंकदेव की दार्शनिकता एवं विशदज्ञान का दर्शन होता है।”

“तत्त्वार्थवार्तिक की दूसरी विशेषता जैन सिद्धान्त के प्राण अनेकान्तवाद की व्यापकरूप से स्थापना करना है। अकलंकदेव ने न केवल दार्शनिक मन्तव्यों अपितु आगमिक रहस्यों में भी यथास्थान अनेकान्तवाद की चर्चा कर उसे प्रतिष्ठित किया।”

“तत्त्वार्थवार्तिक के सभी अध्यायों की विशद टीका अकलंकदेव ने की है और उसमें जैन सिद्धान्तों के विवेचन के साथ ही अन्य दर्शनों की समीक्षा की है। इसके अतिरिक्त स्फोटवाद, क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा वैनिकवादियों की समीक्षा की है।”

“तत्त्वार्थवार्तिक में अकलंकदेव ने जैन सिद्धान्त और आगम का विशद वर्णन करते हुए मुक्ति हेतु अनेकान्तमयी, आत्माश्रित अध्यात्म पक्ष को ही उपादेय स्वीकार किया है।”

“स्वामी समन्तभद्र ने देवागम स्तोत्र (आप्त मीमांसा) में अनेकान्तवाद की स्थापना करते हुए सर्वज्ञ की सिद्धि की थी। अकलंकदेव ने देवागम स्तोत्र पर 800 श्लोक प्रमाण विवृति (भाष्य) लिखी जो अष्टशती कहलाती है।”

“उनके मौलिक ग्रन्थों में ‘लघीयस्त्रय’ का नाम सर्वप्रथम है।” इसके माध्यम से ‘अकलंकदेव प्रबुद्ध पाठकों को प्रमाण, नय और प्रवचन का सामान्य परिचय देना चाहते थे।”

‘अकलंकदेव ने नयप्रवेश (लघीयस्त्रय) में नय के साथ दुर्नय या नयाभास के लक्षण भी उपन्यस्त किये हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञाता का अभिप्राय ही नय है। अनेकान्त दृष्टि के क्रियान्वयन के लिए उन्होंने कतिपय सामान्य नियम बनाये थे जिन्हें ‘नय’ नाम से अभिहित किया था। कोई भी दृष्टि अपने प्रतिपक्षी की दृष्टि का निराकरण नहीं कर सकेगी। भले ही, एक अभेददृष्टि की मुख्यता होने पर दूसरी भेददृष्टि गौण हो जाये। यही सापेक्षता नय का मूलतत्त्व है। सापेक्षता के अभाव में नयदृष्टि दुर्नय बन जाती है। सापेक्ष दृष्टि अभेददृष्टि है और निरपेक्षदृष्टि भेददृष्टि। इन्हें ही द्रव्यनय और पर्यायनय नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। द्रव्यार्थिक नय अभेदग्राही है तो पर्यायार्थिक नय भेदग्राही। किसी एक धर्म को मुख्य और उससे इतर धर्मों को गौणरूप से प्रस्तुत करनेवाले ज्ञाता का अभिप्राय ही नय है। जब वही अभिप्राय इतर धर्मों को अनेकान्त दृष्टि से गौण करने की अपेक्षा एकान्तदृष्टि से उनका निराकरण या निरसन करने लगता है तब वह दुर्नय हो जाता है।’

“अकलंकदेव की रचनाओं में ‘न्यायविनिश्चय’ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सिद्धसेन के न्यायावतार के बाद जैन साहित्य में न्यायविनिश्चय ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसके आधार पर उत्तरकालीन जैन न्याय के साहित्य का सृजन हुआ। अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय पर पद्य-गद्यात्मक वृत्ति भी लिखी।”

“एकान्त पक्ष के विरुद्ध जितने भी प्रमाण हो सकते थे, उनका संग्रह इस ग्रन्थ (प्रमाण संग्रह) में किया गया है। इस कारण इसकी भाषा और भाव अति कठिन है। यह गद्य-पद्यात्मक है। इसे अकलंकदेव के अन्य ग्रन्थों का परिशिष्ट भी कहा जा सकता है।”

“अकलंक स्तोत्र में 16 छन्द हैं। इसमें वीतराग परमात्मा को निष्कलंक सिद्धकर उनका स्तवन किया है।”

“अकलंकदेव का साहित्य तर्कप्रधान और विचारप्रधान होकर दार्शनिक समीक्षा से ओत-प्रोत है। जो भी लिखा गहन मनन, चिन्तन और अध्ययन के बाद लिखा। वे शुष्क दार्शनिक न

होकर विनोदी और परिहास-कुशल थे। उन्होंने बौद्धदर्शन का खण्डन तो किया किन्तु उनके मन में विद्वेष नहीं रहा।”

“आचार्य अकलंकदेव ने वस्तु सर्वथा सत् ही है अथवा असत् ही है, नित्य ही है अथवा अनित्य ही है - इस प्रकार सर्वथा एकान्त के निराकरण करने को अनेकान्त कहा है। आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है कि जीव, अजीव और आस्रव आदि के भेदाभेद का अनेकान्त-दृष्टि से विचार करना चाहिए।”

“आचार्य अकलंकदेव ने अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठापना में महनीय योगदान दिया।”

“अकलंकदेव ने ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान से अनेकान्तात्मक स्वरूप को प्रतिपादित कर समन्तभद्राचार्य द्वारा व्याख्यायित सिद्धान्तों को परिपूर्णता प्रदान की है।”

“अकलंकदेव ने आत्मा और ज्ञान के बीच कर्ता और करण के भेद-अभेद की और अन्त में ज्ञान से आत्मा को भिन्न-अभिन्न सिद्ध कर घोषित किया कि अखण्ड दृष्टि से आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं है।”

“भट्ट अकलंकदेव मानव को उसे पूरा मानवीय बनाकर सिद्धत्व प्राप्त कराना चाहते हैं जो उनके बताये मार्ग पर चलने से अवश्य ही प्राप्त होगा।”

“पुण्य तथा पाप का विश्लेषण करते हुए अकलंकदेव कहते हैं - जो आत्मा को प्रसन्न करे अथवा जिसके द्वारा आत्मा सुख-साता का अनुभव करे, वह सातावेदनीय आदि पुण्य हैं। उसके विपरीत जो आत्मा में शुभ परिणाम न होने दे, जिसके कारण आत्मा को दुःख का अनुभव हो वह असातावेदनीय आदि पाप हैं।”

“श्री भट्ट अकलंकदेव ने ‘तत्त्वार्थवार्तिक’ में विभिन्न प्रसंगों में अनेक मानवीय मूल्यों का उल्लेख किया है जिन्हें जीवन में स्थान देने से व्यक्ति में गुणात्मक विकास होता है, यथा - दृढ़ मित्रता, दयालुता, स्वकार्यपटुता, स्वधर्मदर्शित्व, पाण्डित्य, निर्वैर वीतरागता, शत्रु के भी दोषों पर दृष्टि न देना, निन्दा न करना, श्रेयोमार्गरुचि, चैत्य-गुरु-शास्त्र पूजा, प्रकृति-भद्रता, सरल व्यवहार, अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह, दुष्टकार्यों से निवृत्ति, स्वागत-तत्परता, कम बोलना, ईर्ष्यारहित परिणाम, सद्धर्म श्रवण, तप की भावना, पात्रदान, अप्रमाद, निश्छलचारित्र, पर-प्रशंसा, गुणीपुरुषों के प्रति विनयपूर्वक नम्रवृत्ति, पर का तिरस्कार न करना, अनौद्धत्य, असूया, उपहास-बदनामी आदि न करना, साधर्मि व्यक्तियों का सम्मान आदि।”

“जीवहिंसा, चोरी, मैथुनादि अशुभ काययोग हैं। असत्य वचन, कठोर भाषण आदि अशुभवचनयोग हैं और किसी को मारने का विचार करना, ईर्ष्या-असूया आदि के भाव अशुभ मनोयोग हैं।”

“अनन्त विकल्पवाले अशुभ योग के विपरीत शुभयोग हैं। अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्यादि शुभ काययोग हैं, सत्य-हित-मित-प्रियवचन शुभवचनयोग है; अर्हंत आदि की भक्ति, तप में रुचि, शास्त्रविनय आदि शुभमनोयोग हैं।”

“विशुद्ध परिणाम तथा संक्लेश परिणाम के कारण अपने तथा दूसरे को दिये जानेवाले सुख-दुःख ही पुण्यास्रव तथा पापास्रव के कारण होते हैं। परिणामों में विशुद्धि तथा संक्लेश नहीं होने पर अपने अथवा दूसरों को सुख तथा दुःख होने पर भी पुण्यास्रव अथवा पापास्रव नहीं होते।”

“जैन न्यायशास्त्र को जो योगदान अकलंकदेव ने दिया है वह अपना उदाहरण आप है। उन जैसा तार्किक शायद ही जैन न्याय के इतिहास में कोई हो। उनके द्वारा दी गई प्रमाण-व्यवस्था को आचार्यों ने अपनी-अपनी प्रमाण-मीमांसा विषयक कृतियों में बिना किसी हेर-फेर के स्वीकार किया है।”

“अकलंकदेव की निर्विवाद विद्वता, तार्किकता और न्यायशास्त्र विशेषतः जैन न्याय में अप्रतिम अवदान के कारण परवर्ती आचार्यों ने उनका उल्लेख बड़े ही सम्मान के साथ किया है, साथ ही अनेक उपाधियों से भी इन्हें अलंकृत किया है। विशेषतः दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रदेश में स्थित अनेक मन्दिरों-बस्तियों में उत्कीर्ण विभिन्न शिलालेखों में अकलंक का नाम भगवान महावीर की विश्रुत परम्परा में गौरव के साथ लिया गया है।”

“जैन न्याय को उनका अवदान अप्रतिम है।”

“जैन साहित्य के इतिहास में अकलंकदेव वे युगप्रवर्तक आचार्य हैं जिन्होंने ज्ञानमीमांसा का सुव्यवस्थित और सर्वांगीण विकास किया है।”

‘जैनविद्या’ पत्रिका का यह 20-21वाँ अंक ‘अकलंक विशेषांक’ के रूप में प्रकाशित है। हम उन विद्वान लेखकों के आभारी हैं जिनकी रचनाओं से इस अंक का कलेवर बनाया गया।

संस्थान समिति सहयोगी सम्पादक, सम्पादक मण्डल एवं सहयोगी कार्यकर्ताओं के प्रति आभारी हैं। मुद्रण हेतु जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि. धन्यवादाह है।

डॉ. कमलचन्द सोगाणी

स्वामी भट्टाकलंकदेव - व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

— श्री कुन्दनलाल जैन



स्वामी समन्तभद्राचार्य के बाद भारतीय दार्शनिक पटल पर कोई भी ऐसा विख्यात दार्शनिक विद्वान् नहीं दिखाई देता है जो श्रीमद् भट्टाकलंक देव से तुलना में सबल प्रतीत होता हो। वे तर्कभूवल्लभ, महर्धिक, समस्तवादिकरीन्द्रदर्पोन्मूलक, अकलंकधी, बौद्ध बुद्धि वैधव्य दीक्षा गुरु, स्याद्वाद के सरसटा, शततीव्रमूर्ति पंचानन, अशेषकुतर्क विभ्रममति, निर्मूलोन्मूलक, अकलंक भानु, अचिन्त्य महिमा, सकल तार्किक चक्रचूड़ामणि, मरीचिमेचकित नख किरण, आदि अनेक विरुदावलियों से विभूषित थे - ऐसा शिला लेखों तथा परवर्ती ग्रंथ-प्रशस्तियों से विदित होता है।

जिस तरह स्वामी समन्तभद्र जैसे दिग्गज मनीषी ने दूसरी शती (140 ई. के लगभग) में जैन-शासन की भेरी निर्भीक भाव से प्रताड़ित की थी उसी तरह आठवीं सदी (720-780 ई.) के अंत में स्वामी अकलंकदेव ने डंके की चोट से जैनशासन को तत्कालीन सभी दर्शनों विशेषतया बौद्ध दर्शन से टक्कर लेकर शीर्षस्थ स्थान दिलाया था और अपना वर्चस्व स्थापित किया था। यथा -

इत्थं समस्त मतवादिकरीन्द्र दर्पमुन्मूलयत्रमल मान दृढप्रहारैः।
स्याद्वाद के सरसटा शततीव्रमूर्तिः पंचाननो जयत्यकलंक देवः॥¹

ये ना शेष कुतर्क विभ्रमतमो निर्मूलमुन्मीलितम्,
स्फारागाध कुनीति सार्थ सरितो निःशेषतः शोषिताः।

स्याद्वादाप्रतिम प्रभूत किरणैः व्याप्तं जगत् सर्वतः,
 स श्रीमानकलंक भानुरसमो जीयाज्जिनेन्द्र प्रभुः।^१
 तर्कवल्लभो देवः सः जयत्यकलंकधीः।
 जगद् द्रव्यमुषो येन दण्डिताः शाक्य दस्यवः।^१

तत्कालीन घटवाद, स्फोटवाद, हेतुवाद, सर्वज्ञ विरोधिता, ईश्वर-कर्तृत्व आदि दार्शनिक वितण्डावादों का स्वामी अकलंकदेव ने जिस प्रामाणिकता एवं दुरुह ग्रंथों की रचना द्वारा सुदृढ़ उत्तर दिया था और तर्कसहित खण्डन किया था, वह दार्शनिक इतिहास की बहुमूल्य धरोहर है। आजतक अकलंकदेव जैसा तार्किक वाग्मी अनेक शास्त्रार्थों का विजेता, मनीषी भारतीय दार्शनिक क्षितिज पर दिखाई नहीं देता है। उनके ग्रंथ, उनके तर्क एवं उनके प्रमाण इतने अधिक सबल और सुदृढ़ हैं कि उनके आगे और सब हीन और हेय प्रतीत होते हैं। उनकी प्रामाणिकता इतनी अधिक सुदृढ़ है कि उनके परवर्ती अनेक धुरंधर विद्वानों ने, मनीषियों ने तथा आचार्यों ने उनका आदरपूर्वक पुण्य स्मरण करते हुए उल्लेख किया है। वे स्वामी समन्तभद्र की भांति स्याद्वाद पंचानन के नाम से विख्यात थे। यथा—

इत्थं समस्त यतवादि करीन्द्र दर्प मुन्मूलयन्न मल मानहृद् प्रहारैः
 स्याद्वाद केसर सटा शत तीव्र मूर्तिः पंचाननो जयत्यकलंकदेवः॥

उन्होंने बौद्ध दर्शन का गहन, गंभीर अध्ययन किया था इसीलिए वे जैनदर्शन के अकाट्य प्रमाणों से उनकी युक्तियों का खण्डन कर सके तथा शास्त्रार्थ में उन्हें पराजित कर सके। 'दण्डिताः शाक्य दस्यवः' जैसे वाक्य इस बात के सार्थक प्रमाण हैं। राजा हिमशीतल की राजसभा में परदे के पीछे घड़े में बैठी तारादेवी को शास्त्रार्थ में पराजित करने की घटना इतिहास प्रसिद्ध है।

श्री अकलंकदेव का प्रामाणिक विशद जीवन-परिचय उनके ग्रंथों में कहीं नहीं मिलता है पर उनके ग्रंथों में जगह-जगह सन्दर्भानुसार 'अकलंक' शब्द का प्रयोग उनके उस ग्रंथ का कर्तृत्व घोषित करता है यथा स्वकर्तृत्व के प्रतिवादक वाक्य 'वृत्तिरियं सकलवादि चक्र चक्रवर्तिनो भगवतो भट्टाकलंक देवस्य इति' यह वाक्य लघीयस्त्रय के प्रमाण प्रवेश के अंत में लिखित पुण्यिका वाक्य है। कारिका संख्या 50 में प्रयुक्त 'प्रेक्षवानकलंक मेति' पद से तथा कारिका संख्या 78 में प्रयुक्त 'भगवदकलंकानाम' इत्यादि पदों से 'लघीयस्त्रय' की कर्तृता श्री अकलंकदेव द्वारा ही हुई है ऐसा सुनिश्चित होता है। इनके अतिरिक्त अनन्तवीर्याचार्यकृत 'सिद्धिविनिश्चय टीका' में उल्लिखित यह वाक्य 'त दुक्तं लघीयस्त्रये प्रमाण फलयोः' तथा श्री विद्यानंद स्वामी द्वारा प्रमाण परीक्षा एवं अष्ट सहस्री में 'तदुक्तमकलंकदेवैः' द्वारा लघीयस्त्रय की तीसरी कारिका से तथा तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में अत्रकलंक देवाः प्राहुः' कहकर उद्धृत लघीयस्त्रय की दशमी कारिका से लघीयस्त्रय का कर्तृत्व श्री अकलंकदेव द्वारा सुनिश्चित होता ही है। श्री मलयगिरि 'आवश्यक निर्युक्ति' की टीका में 'तथा चाहाक लंक देवैः' लिखकर लघीयस्त्रय की कर्तृता श्री अकलंकदेव द्वारा सुनिश्चित करते हैं।

न्यायविनिश्चय की कारिका संख्या 386 में प्रयुक्त 'विस्रब्धैरकलंक रत्न निचयो न्यायो' तथा कारिका संख्या 480 में 'आमव्याद कलक भगफलम्' पद प्रयोग से न्यायविनिश्चय का कर्तृत्व श्री अकलंकदेव द्वारा सुनिश्चित होता है। श्री विद्यानंद स्वामी द्वारा आप्तपरीक्षा में, अनन्तवीर्याचार्य द्वारा सिद्धिविनिश्चय टीका में, तथा श्री वादिराज सूरि द्वारा 'न्यायविनिश्चय विवरण' में 'तदुक्तम कलंक देवै' कहकर उद्धृत की गई कारिका संख्या 51 से इसका सबल समर्थन होता है। 'न्यायदीपिका' के कर्ता आचार्य धर्मभूषण द्वारा 'तदुक्तं भगवद्भिरकलंकदेवैः न्यायविनिश्चये' लिखने से न्यायविनिश्चय की तीसरी कारिका से इसका कर्तृत्व श्री अकलंकदेव द्वारा सुनिश्चित होता है। 'प्रमाण संग्रह' की कारिका संख्या 9 में उल्लिखित 'अकलंक महीय साम्' पद प्रमाणसंग्रह का कर्तृत्व श्री अकलंकदेव द्वारा असंदिग्ध रूप से प्रमाणित करता है। 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में श्री विद्यानंद स्वामी द्वारा उल्लिखित वाक्य 'अकलंकैरम्य धायी यः', स्वरूप दूसरी कारिका के उद्धरण से तथा श्री वादिराज सूरि द्वारा 'न्यायविनिश्चय विवरण' में 'तथा चात्र देवस्य वचनम्' लिखकर उद्धृत किए गये इसके 'विविधानुविवादनस्य' वाक्य से इसके कर्तृत्व अकलंकदेव हैं - की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

उपर्युक्त विवरणों से श्री अकलंक के कृतित्व की एक संक्षिप्त-सी झलक मिल जाती है, उनके ग्रंथों का विवेचन आगे करेंगे। श्री अकलंकदेव के व्यक्तित्व एवं जीवन-परिचय के कोई स्पष्ट सुनिश्चित साधन तो हैं नहीं, पर कुछ शिलालेखों तथा कुछ ग्रंथ प्रशस्तियों के आधार पर उनका समय सन् 720 से 780 ई. तक सुनिश्चित होता है। इनके पिताश्री पुरुषोत्तमजी मान्यखेट के राजा शुभतुंग के मंत्री थे। इनके छोटे भाई का नाम निःकलंक था जो बड़ी विचक्षण प्रतिभा का धनी था, दो बार सुनने पर ही उसे तथ्य वस्तु याद हो जाती थी पर धार्मिक विद्वेष के कारण उसे अकाल काल-कवलित होना पड़ा जिसका विस्तृत विवेचन आगे करेंगे। 'राजवली कथे' नामक ग्रंथ में अकलंकदेव को कांची के ब्राह्मण पंडित श्री जिनदास का पुत्र बताया है। इनकी मातृश्री का नाम जिनमती था तथा गुरु का नाम रविगुप्त था। जब गुरुजी के पास पढ़ने गये तो आष्टाहिका पर्व चल रहा था अतः गुरुजी ने पर्व के दिनों में ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने को कहा तो सहर्ष तैयार हो गये और इस असिधारा व्रत का उन्होंने आजीवन निष्ठापूर्वक पालन किया। युवावस्था में जब विवाह की चर्चा आई तो गुरुजी द्वारा प्रदत्त ब्रह्मचर्यव्रत का उल्लेख कर विवाह-प्रकरण को समाप्त कर दिया, उन्हें समझाया गया कि वह तो उन्हीं पर्व के दिनों तक सीमित व्रत था पर वे अपनी बात पर अडिग रहे और जैनशासन की धर्मध्वजा को अबाधरूप से फहराते रहे।

राजवार्तिक के प्रथम अध्याय के अंत में उल्लिखित निम्न श्लोक से श्री अकलंक राजा लघुहव्व के वरतनय - ज्येष्ठ पुत्र थे। यथा—

जीयाच्चिरम कलंक ब्रह्मा लघुहव्व नृपति वर तनयः।
अनवरत निखिल जन नुत विद्यः प्रशस्त जन हृद्यः॥

ऐसा प्रतीत होता है कि लघुहव्व और पुरुषोत्तम एक ही व्यक्ति हैं। कर्नाटक में पिता के लिए अव्व या अप्प शब्द प्रयुक्त होता है। चूंकि श्री अकलंक के पिताश्री एक ताल्लुकेदार होकर भी विशिष्ट राजमान्य श्रेष्ठपुरुष तो थे ही, अतः उन्हें नृपति शब्द का संबोधन सम्मान-सूचक तो है ही। अब लघुहव्व और लघुअव्व की समस्या आती है सो उच्चारण की विविधता एवं प्रतिलेखन के वैचित्र्य के कारण 'अ' 'ह' में परिवर्तित हो गया और लघुअव्व, लघुहव्व में प्रचलित हो गया। इस प्रकार श्री अकलंकदेव के पिताश्री का असली नाम पुरुषोत्तम था पर प्रचलित नाम 'लघुहव्व' रहा। श्री अकलंकदेव की जन्मभूमि मान्यखेट के आस-पास ही रही होगी, क्योंकि मान्यखेट को राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित करनेवाले महाराज अमोघवर्ष थे।

राष्ट्रकूट वंशीय महाराज इन्द्रराज द्वितीय और कृष्णराज प्रथम दोनों भाई-भाई थे। इन्द्रराज द्वितीय का पुत्र दन्तिदुर्ग पिता की मृत्यु के पश्चात् राज्य का उत्तराधिकारी बना। संभव है दन्तिदुर्ग अपने चाचा कृष्णराज प्रथम को 'अव्व' शब्द से संबोधित करता हो। कर्नाटक की प्रथा के अनुसार 'अव्व' पिता या चाचा का बोधक है, अतः यह सामान्य सी बात है कि राजा जिसे 'अव्व' कहे प्रजाजन उसे वैसा ही संबोधित करने लगेंगे। कृष्णराज प्रथम का अपर नाम शुभतुंग था जो दन्तिदुर्ग की अल्पवय में ही मृत्यु हो जाने के कारण उसके राज्य सिंहासन पर विराजमान हुआ। उसकी प्रशंसा में लिखा है -

श्रीकृष्ण राजस्य शुभतुंग तुरग प्रवृद्धरेण्वर्ध रुद्ध रविकिरणम्

कृष्णराज (शुभतुंग) बड़ा प्रतापी राजा था। उसने कांची, केरल, चोल आदि राज्यों को पराजित कर अपने अधीन कर लिया था। यथा—

कांचीश केरल नराधिक चोल पाण्डेय श्रीहर्षवज्रट विभेद विधानदक्षं।

कर्णाटकं बलम नंत यजेयरथ्यैः भृत्यैः कियदिरपि यः सहसा जिगाय॥¹

दन्तिदुर्ग का अपर नाम साहसतुंग भी प्रचलित था। वह अपने चाचा कृष्णराज (शुभतुंग) को 'लघु अव्व' संबोधन से संबोधित करता था। तो श्री पुरुषोत्तम (अकलंक के पिताश्री) कृष्णराज (शुभतुंग) के पहले से ही लघु सहकारी रहे हैं, अतः दन्तिदुर्ग जैसे कृष्णराज को लघु अव्व कहा करते थे उसी तरह पुरुषोत्तम भी लघुअव्व नाम से प्रसिद्ध हो गये। दन्तिदुर्ग की प्रशस्ति वाचन करते हुए श्री मल्लिषेणजी लिखते हैं—

तत्रान्वयेऽप्यभवदेकपतिः

श्री	दन्तिदुर्ग	इति	दुर्धर	पृथिव्याम्,
चालुक्य		सिन्धुमथनोद्धव		बाहुवीर्यो ।
यो	सबभार	चिरमात्म	कुलैक	राजलक्ष्मीम्,
तस्मिन्	साहसतुंग	नाम्निनृपतौ	स्वसुन्दरी	कान्ताम् ॥
				प्रार्थितै,
				यस्येतदात्मनोऽनन्य सामान्य निरवद्य विद्या विभवोपवर्णनमाकर्ण्यते ॥

उपर्युक्त मल्लिषेण प्रशस्ति से स्पष्ट विदित होता है कि दन्तिदुर्ग बड़ा पराक्रमी था, उसका अपर नाम साहसतुंग था। उसने चालुक्यों की राजलक्ष्मी को अपनी कान्ता के समान धारण किया था।

ब्रह्म नेमिदत्त के कथाकोश के अनुसार जब अकलंक और निःकलंक बौद्ध दर्शन के अध्ययनार्थ किसी बौद्ध मठ में गये, उन दिनों जैनों और बौद्धों में परस्पर तीव्र मनोमालिन्य रहता था, अतः बौद्ध मठ में दाखिल होना सरल काम न था, फिर भी वे अपनी प्रतिभा के बल पर वहाँ प्रवेश पा गये। एक दिन बौद्ध गुरु दिङ्नाग के अनेकान्त-खण्डन का पाठ पढ़ा रहे थे पर पूर्वपक्ष का पाठ कुछ दुरूह अथवा अशुद्ध था, जिससे बौद्ध गुरु दिग्भ्रान्त हो गये और पाठ को अगले दिन के लिए स्थगित कर दिया। स्वामी अकलंकदेव उसे सरलता से समझ गये और रात्रि को उठकर उन्होंने उस पाठ को संशोधित कर दिया। जब बौद्ध गुरु ने अगले दिन संशोधित पाठ देखा तो वे समझ गये कि यहाँ कोई जैन विद्वान गुप्तरूप से अध्ययन कर रहा है, उन्हें भय हो गया, अतः तलाश करने के लिए जैनमूर्ति को लाँघने का कार्यक्रम रखा गया। दोनों भाई मूर्ति पर होशियारी और चतुराई से धागा डालकर जैनमूर्ति लाँघ गये और कुछ भी पता नहीं चला। अब तो मठ के सभी अधिकारीगण और विद्वान् चिन्तित और व्याकुल हो उठे। खिसियाकर उन्होंने रात को जब सभी छात्र गहरी निद्रा में सो रहे थे तो सहसा काँसे के बर्तनों की बोरी जीने से नीचे लुढ़का दी जिससे सभी छात्र भयभीत हो अपने-अपने इष्टदेव का पुण्य स्मरण करने लगे। ये दोनों भाई णमोकार मंत्र का जाप करते हुए पकड़े गये और उन्हें मठ की दूसरी मंजिल में बंद कर दिया गया, पर दोनों भाई छतरी के सहारे ऊपर से कूदकर भाग निकले। जब दूसरे दिन दोनों भाई नहीं मिले तो उन्हें ढूँढने के लिए सिपाही भेजे गये। सिपाही उन्हें ढूँढते हुए एक नदी तट पर आये जहाँ एक धोबी वस्त्र धो रहा था। उधर दोनों भाइयों में विवाद चल रहा था कि तुम छिप जाओ, दूसरा कहता तुम छिप जाओ, समय अधिक था नहीं, अतः अकलंक ही नदी में छिप गये और सिपाहियों ने दोनों (धोबी और निःकलंक) को तलवार के घाट उतार दिया।

सिपाहियों के चले जाने पर अकलंक नदी से बाहर निकले और कलिंग देश के रत्नसंचयपुर नगर में पधारे। वहाँ राजा हिमशीतल का राज्य था, उनकी रानी मदनसुन्दरी जैन धर्मावलंबिनी थी। आषाढिका पर्व के दिन थे, रानी मदनसुन्दरी जैन रथयात्रा निकलवाना चाहती थी, पर बौद्धगुरु के बहकाने में आकर राजा हिमशीतल ने जैन रथयात्रा निकलवाने की अनुमति नहीं दी और शर्त लगा दी कि यदि कोई जैनगुरु बौद्धगुरु को शास्त्रार्थ में हरा दे तो रथयात्रा निकल सकती है। इससे रानी मदनसुन्दरी बहुत चिन्तित हुई और धर्मोपासना में और अधिक विशेषरूप से तल्लीन हो गई। सहसा अकलंकदेव राजा हिमशीतल की सभा में पधारे और बौद्धगुरु से शास्त्रार्थ के लिए तैयार हो गये। संघश्री परदा डालकर परदे के पीछे से शास्त्रार्थ कर रहा था, इस तरह शास्त्रार्थ करते हुए छः माह बीत गए पर कोई निष्कर्ष न निकला। एक रात्रि को चन्द्रेश्वरी देवी ने अकलंक को रहस्य बताया कि परदे के पीछे घट में स्थित तारादेवी शास्त्रार्थ कर रही है, गुरु संघश्री नहीं, अतः प्रातः तुम किसी भी प्रश्न या उत्तर की पुनरावृत्ति के लिए कहना, बस इसी से उसकी पराजय हो जावेगी। चन्द्रेश्वरी देवी के परामर्श अनुसार अगले दिन अकलंकदेव ने वैसा ही किया और पुनरावृत्ति के लिए कहा पर कोई उत्तर न मिला तब तो अकलंकदेव ने परदे को हटाकर के तत्रस्थित घड़े को पैर की ठोकर से तोड़ दिया। निम्न पद्य प्रमाणरूप में प्रस्तुत है—

नाहंकार वशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं,
 नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जनो कारुण्य बुद्ध्या मया।
 राज्ञ श्री हिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो,
 बौद्धोधान सकलान्विजित्य सुगतः (सघटः) पादेन विस्फोटितः ॥

अकलंकदेव के समय के विषय में अकलंक चरित में निम्न पद्य प्राप्त होता है, पर इस पर विद्वानों में दो पक्ष उभरते हैं—

विक्रमार्क शकाब्दीय शतसप्त प्रभाजुषि।
 कालेऽकलंक यतिनो बौद्धेर्वादो महानभूत् ॥

उपर्युक्त श्लोक में विक्रम संवत् और शक शब्द वाचक शब्द होने से विद्वानों में दो पक्ष हो गये हैं। विक्रमार्क को माननेवाले डॉ. श्रीकृष्ण शास्त्री तथा जुगलकिशोरजी मुख्तार हैं जो अकलंक का समय विक्रम संवत् 700 (643 ई.) सुनिश्चित करते हैं, पर दूसरा पक्ष 'शकाब्दीय' शब्द को महत्व देता है, अतः यह पक्ष अकलंक का समय शक संवत् 700 (778 ई.) मानता है। इसके पक्षधर श्री डॉ. के.वी. पाठकजी हैं। डॉ. पाठक मल्लिषेण प्रशस्ति के निम्न श्लोक के आधार पर अकलंक का समय निश्चित करते हैं —

राजन् साहसतुंग सन्ति वहवः श्वेतातपत्राः नृपाः,
 किन्तु त्वत्सदृशो विजयिनः त्यागोन्नताः दुर्लभाः।
 तद्वत्सन्ति बुधाः न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो,
 नानाशास्त्र विचार चातुरधियः काले कलौ मद्बिधा ॥ 21 ॥
 राजन् सर्वारिदर्प प्रविदलन पटुस्त्वं यथात्र प्रसिद्ध,
 स्तद्वत्ख्यातोऽहमस्यांभुवि निखल मदोत्पाटनः पण्डितानाम्।
 नो चेदेषोऽयहमेते तव सदसि सदा सन्ति सन्तो महानतो,
 ववतुं यस्यास्ति शक्तिः सवदतु विदिताशेष शास्त्रो यदि स्यात् ॥ 22 ॥

डॉ. पाठक का मन्तव्य है कि अकलंक राष्ट्रकूट वंशीय राजा दन्तिदुर्ग (साहसतुंग) के या कृष्णराज प्रथम के समकालीन थे। इस पक्ष के समर्थक स्व. श्री डॉ. आर.जी. भाण्डारकर, स्व. डॉ. सतीशचंद्र विद्याभूषण तथा स्व. पण्डित नाथूरामजी प्रेमी रहे हैं, इनकी युक्तियाँ हैं - पहली पुन्नाटवंशी जिनसेन के हरिवंश पुराण में अकलंक का उल्लेख होना, दूसरी अकलंक द्वारा धर्मकीर्ति नामक बौद्ध विद्वान् का खंडन करना, तीसरी प्रभाचंद्र के कथाकोश में अकलंक का शुभतुंग के मंत्री का पुत्रोल्लेख होना।

डॉ. श्रीकृष्ण शास्त्री और जुगलकिशोरजी मुख्तार के पक्ष का समर्थन डॉ. ए.एन. उपाध्ये तथा पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री आदि ने किया है। इनकी युक्तियाँ हैं - वीरसेन की धवला टीका में राजवार्तिक का उल्लेख होना, दूसरी हरिभद्र द्वारा 'अकलंक न्याय' शब्द का प्रयोग करना, तीसरी सिद्धसेन गणि का सिद्धिविनिश्चय वाला उल्लेख तथा जिनदास गणि महत्तर द्वारा 'निशीय चूर्णि' में सिद्धिविनिश्चय का दर्शन प्रभावक शास्त्र के रूप में लिखा जाना आदि-आदि प्रमाण

हैं। इस तरह केवल 135 वर्ष के अन्तराल पर विद्वानों में पक्षभेद है। स्वामी अकलंकदेव ने अपने से पूर्ववर्ती जैनतर विद्वानों का उल्लेख किया है जैसे भर्तृहरि (600-650 ई.), कुमारिल (600-680 ई.), प्रज्ञाकर (670-725 ई.), कर्णक गोमि (690-750 ई.), धर्मकीर्ति (620-690 ई.), धर्मोत्र (650-720 ई.), शान्तरक्षित (705-762 ई.) आदि-आदि। इससे अकलंकदेव का समय सन् 720 से 780 ई. सुनिश्चित होता है।

अकलंकदेव का कृतित्व अति महान्, दुरुह एवं गहन-गंभीर है। इनके द्वारा रचित- (1) तत्त्वार्थराजवार्तिक भाष्य, (2) अष्टशती, (3) लघीय स्त्रय सविवृत्ति, (4) न्यायविनिश्चय सवृत्ति, (5) सिद्धिविनिश्चय, (6) प्रमाण संग्रह स्वोपज्ञ।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक भाष्य—इस महाग्रंथ में गृद्धपिच्छाचार्य (उमास्वामी) के तत्त्वार्थसूत्र के 355 सूत्रों में से सरलतम 27 सूत्रों को छोड़कर शेष 328 सूत्रों पर गद्यवार्तिकों की रचना की गई है, जिनकी संख्या दो हजार छः सौ सत्तर है। इन वार्तिकों द्वारा सूत्रकार के सूत्रों पर संभावित विप्रतिपत्तियों का निराकरण कर सूत्रकार के सूत्रों के मर्म का उद्घाटन किया है। वार्तिक शैली में लिखा यह सर्वप्रथम ग्रंथ है। ग्रंथ की पुष्पिकाओं में इस ग्रंथ का नाम 'तत्त्वार्थवार्तिक व्याख्यानालंकार' दिया गया है। पूज्यपाद (देवनन्दी) की सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थवृत्ति) का बहुभाग इसमें मूलवार्तिक रूप में समाविष्ट हो गया है। इस ग्रंथ की भाषा अत्यंत सरल है जबकि अष्टशती, न्यायविनिश्चय तथा प्रमाण-संग्रहादि की भाषा अत्यंत क्लिष्ट है। यदि अष्टशती पर अष्टसहस्री टीका न होती तो उसका अर्थ समझ पाना अत्यन्त कठिन होता। प्रस्तुत ग्रंथ में द्वादशांग का निरूपण करते समय क्रियावादी, अक्रियावादी और आज्ञानिक में जिन साकल्य, वाष्कल, कुंथुमि, कठ, माध्यन्दिन, मौद, पैप्पलाद, गार्ग्य, मौदूलायन, आश्वलायन आदि मनीषी ऋषियों का उल्लेख किया है, वे सब ऋग्वेदादि के शाखा ऋषि हैं। इस ग्रंथ में सैद्धान्तिक, भौगोलिक और दार्शनिक सभी चर्चाओं का उल्लेख यथास्थान प्राप्त होता है, ग्रंथ में सर्वत्र सप्तभंगी व अनेकान्तवाद की चर्चा विस्तृत रूप से की गई है। अकलंकदेव अच्छे सुविज्ञ वैय्याकरण भी थे। उन्होंने इस ग्रंथ में जहाँ पूज्यपाद और जैनेन्द्र के व्याकरण संबंधी उल्लेख किए हैं वहाँ पाणिनि और पातंजलि भाष्यकार को भी नहीं भूल पाये हैं। भूगोल और खगोल वर्णन के लिए यतिवृषभ की तिलोय पण्णति का भी उन्होंने भरपूर उपयोग किया है। अतः यह ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र की उपलब्ध टीकाओं में मूर्धन्य और श्रेष्ठ आकर (संग्रह) ग्रंथ है। इसमें अकलंकदेव की विचक्षण प्रतिभा और तीव्र प्रज्ञा के दर्शन जगह-जगह दिखाई देते हैं। इसमें जैनेतर ग्रंथों के उद्धरण बहुलता से प्राप्त होते हैं जिससे उनकी महत्ता का ज्ञान सहज ही प्राप्त हो जाता है। तत्त्वार्थसूत्र पर इस जैसा कोई दूसरा भाष्यग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

अष्टशती—यह ग्रंथ स्वामी समन्तभद्राचार्यकृत 'आप्त मीमांसा देवागम स्तोत्र की संक्षिप्त वृत्ति है। इसका जैसा नाम है, वैसे ही 800 श्लोक प्रमाण रचना है। इस पर यदि विद्यानंद स्वामी अष्टसहस्री टीका न लिख जाते तो इसका अर्थ समझ पाना बड़ा दुरुह हो जाता। वैसे अष्टसहस्री भी कोई कम कठिन ग्रंथ नहीं है। अतः विद्यार्थी उपहास में इसे 'कष्टसहस्री' का नाम रूपान्तरित करते हैं'। स्वयं विद्यानंद स्वामीजी लिखते हैं—

श्रोतव्या अष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्र संख्यानैः

इसमें सदैकान्त, असदैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, नित्यैकान्त, क्षणिकैकान्त आदि अनेक एकान्तों की आलोचना करते हुए पाप-पुण्य की चर्चा की है। इसमें आप्त की महत्ता का विवेचन करते हुए वीतराग सर्वज्ञ को ही आप्त सिद्ध किया है और अंत में प्रमाण और नय की चर्चा प्रस्तुत की है।

लघीयस्त्रय सविवृत्ति—यह छोटे-छोटे तीन प्रकरणों का संग्रह ग्रंथ हैं। ये प्रकरण हैं— (1) प्रमाण प्रवेश, (2) नय प्रवेश और (3) प्रवचन प्रवेश। इसमें कुल 70 मूल कारिकाएँ हैं। ग्रंथ को सरलता से अवगाहन हेतु अकलंकदेव ने लघीयस्त्रय पर विवृत्तिरूप व्याख्या प्रस्तुत की है। जो व्याख्या न होकर उसमें सूचित विषयों की पूरक है। इस ग्रंथ के छः परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में सम्यग्ज्ञान की प्रमाणता तथा उसके प्रत्यक्ष-परोक्षादि भेदों का विस्तार से विवेचन किया है और पूर्वज्ञानी की प्रमाणता सिद्ध की है। दूसरे परिच्छेद में प्रमेय संबंधी चर्चा विस्तार से की है और नित्यैकान्त तथा क्षणिकैकान्त की चर्चा विशदता से की है। तीसरे परिच्छेद में परोक्ष-प्रमाण संबंधी विषयों की चर्चा की है। चौथे परिच्छेद में ज्ञान की एकान्तिक प्रमाणता या अप्रमाणता का निषेध करके प्रमाणभाष का स्वरूप, श्रुत की प्रमाणता और आगम प्रमाण आदि की चर्चा है। पाँचवें परिच्छेद में नयों की विवेचना की है, नय और दुर्नय के लक्षण तथा भेदों की चर्चा है। छठे परिच्छेद में प्रमाण और नय का विवेचन करते हुए सकलादेश विकलादेश पर विचार व्यक्त किए हैं। यह ग्रंथ अकलंकदेव की पहली मौलिक कृति है।

न्यायविनिश्चय सवृत्ति—प्रस्तुत ग्रंथ में 480 श्लोक हैं, जो तीन परिच्छेदों में विभक्त हैं— (1) प्रत्यक्ष, (2) अनुमान और (3) प्रवचन। संभव है ग्रंथकर्ता ने इस पर भी कोई चूर्ण या वृत्ति लिखी हो, पर प्रयत्न करने पर भी उपलब्ध न हो सकी।

प्रथम परिच्छेद में प्रत्यक्ष का लक्षण तथा उसके भेद-प्रभेदों की विस्तृत चर्चा की है और जैनेतर दार्शनिक धर्मकीर्ति, बौद्ध, सांख्य, नैयायिक आदि के द्वारा सम्मत प्रत्यक्ष की डटकर समालोचना और खंडन किया है।

दूसरे परिच्छेद में अनुमान का लक्षण तथा तत्संबंधी अन्य हेतु व हेत्वाभासों की आलोचना करते हुए अनेकान्त और अकिञ्चित्कर आदि की चर्चा की है।

तीसरे परिच्छेद में प्रवचन प्रस्ताव का स्वरूप, सुगत के आप्तत्व का निराकरण, सुगत के करुणऽतत्व तथा चतुरार्थ प्रतिपादकत्व का परिहास, आगम के अपौरुषेयत्व का खण्डन, सर्वज्ञता का समर्थन, मोक्ष और सप्तभंगीका निरूपण, स्याद्वाद में दिये जानेवाले संवायादि दोषों का परिहार तथा प्रमाण के फलादि विषयों का विशदता से विवेचन हुआ है। इस ग्रंथ पर वादिराज द्वारा रचित विस्तृत विवरण उपलब्ध है, जो 'न्यायविनिश्चय विवरण' के नाम से विख्यात है। वादिराज का समय शक संवत् 940 (सन् 1025 ई.) सुनिश्चित है।

सिद्धिविनिश्चय—अकलंकदेव की यह एक अति महत्वपूर्ण कृति है। इसमें 12 प्रस्ताव हैं जिनमें प्रमाण नय और निक्षेप का विशद विवेचन है। प्रस्तावों के नाम निम्न प्रकार हैं— (1) प्रत्यक्ष सिद्धि, (2) सविकल्प सिद्धि, (3) प्रमाणान्तर सिद्धि, (4) जीव सिद्धि, (5) जल्प सिद्धि, (6) हेतुलक्षण सिद्धि, (7) शास्त्र सिद्धि, (8) सर्वज्ञ सिद्धि, (9) शब्द सिद्धि, (10) अर्थनय सिद्धि, (11) शब्दनय सिद्धि और (12) निक्षेप सिद्धि। इनके नामों से प्रस्ताव गत विषयों का ज्ञान सरलता से प्रतीत हो जाता है। इन प्रस्तावों के क्रमिक विकास की दृष्टि से ये 12 प्रस्ताव चार भागों में विभाजित किए गये हैं— (1) प्रमाण मीमांसा, (2) प्रमेय मीमांसा, (3) नय मीमांसा और (4) निक्षेप मीमांसा। इस संक्षिप्त विवेचन से ग्रंथ की महत्ता का आभास मिल जाता है। इस तरह अकलंक की कृतियां जैनशासन की महत्वपूर्ण एवं मूल्यवान रचनाएँ हैं।

प्रमाण संग्रह—इस ग्रंथ के विषय में 'यथा नाम तथा गुण' की उक्ति चरितार्थ होती है; इसमें प्रमाणों और युक्तियों का संग्रह विद्यमान है। इस ग्रंथ की भाषा एवं विषय शैली दोनों ही अत्यधिक जटिल और दुरूह है। यह लघीयस्त्रय और न्याय विनिश्चय से भी अधिक दुरूह और कठिन है। सारा ग्रंथ प्रमेयबहुल है, इसमें नौ प्रस्ताव तथा 87¹/₂ कारिकाएँ हैं। इस पर ग्रंथकर्ता ने कारिकाओं के अतिरिक्त पूरकवृत्ति भी लिखी है। इस तरह गद्य-पद्यमय संपूर्ण ग्रन्थ का प्रमाण अष्टशती के बराबर ही हो जाता है। इस ग्रंथ पर अनन्तवीर्यकृत प्रमाण संग्रहालंकार नामकी कोई टीका रही है जिसका उल्लेख सिद्धिविनिश्चय टीका के पृ. 8, 10 और 130 पर निर्दिष्ट है।

ग्रंथ के प्रथम प्रस्ताव में नौ कारिकाएँ हैं जिनमें प्रत्यक्ष काल श्रुत, अनुमान और आगमपूर्वक दिया है तथा प्रमाण वा फलादि की चर्चा है। दूसरे प्रस्ताव में भी नौ कारिकाएँ हैं जिनमें परोक्ष के भेद स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्कादि का विवेचन किया गया है। तीसरे प्रस्ताव में दस कारिकाएँ हैं जिनमें अनुमान के अवयव, साध्य, साधन और साध्याभास का लक्षण, सदैकान्त में साध्य प्रयोग की असंभवता, सामान्यविशेषात्मक वस्तु की साध्यता और उसमें दिये जानेवाले संशयादि आठ दोषों के निराकरण आदि की चर्चा है। चौथे प्रस्ताव में साढ़े ग्यारह कारिकाओं द्वारा त्रिरूप का निराकरण, अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु का समर्थन, और हेतु के उपलब्धि-अनुपलब्धि आदि भेदों का विवेचन तथा कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतुओं का समर्थन है। पाँचवें प्रस्ताव में साढ़े दस कारिकाओं द्वारा विरुद्धादि हेत्वाभासों का वर्णन है। छठे प्रस्ताव में 12¹/₂ कारिकाओं द्वारा वाद का लक्षण जय-पराजय व्यवस्था का स्वरूप, जाति का लक्षण आदि वाद संबंधी विवेचन है और अंत में धर्मकीर्ति द्वारा परिवादियों के प्रति जाड्यादि अपशब्दों के प्रयोग का उत्तर दिया है। सातवें प्रस्ताव में दस कारिकाओं द्वारा प्रवचन का लक्षण, सर्वज्ञता का समर्थन, अपौरुषेयत्व का खण्डन, तत्त्वज्ञान चारित्र की मोक्षहेतुता की चर्चा है। आठवें प्रस्ताव में तेरह कारिकाओं द्वारा सप्तभंगी और नैगमादि नयोंका निरूपण है। नौवें प्रस्ताव में दो कारिकाओं द्वारा प्रमाण, नय और निक्षेप का उपसंहार किया है। इस तरह अकलंकदेव की सभी कृतियां अति महत्वपूर्ण हैं तथा जैनन्याय के लिए अपूर्व देन हैं।

अकलंक नाम के कुछ अन्य विद्वान्—श्रीमद्भट्टाकलंक देव स्वामी अपने समय के इतने बड़े दिग्गज प्रकांड पण्डित तथा विख्यात मनीषी थे कि उनकी यशःपताका दिग्दिगन्त तक प्रख्यातरूप से फहराती रही, फलतः उनके उत्तरवर्ती विद्वानों ने तथा उनके माता-पिता ने 'अकलंक' नाम को इतना अधिक पुनीत और सार्थक समझा और स्वयं को अकलंक नाम से अथवा माता-पिता ने अकलंक नाम-निक्षेप में बड़े गौरव और आनन्द की अनुभूति की होगी, अतः हम यहाँ ऐसे अकलंक नामधारी लगभग ग्यारह विद्वानों का संक्षिप्त-सा उल्लेख करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहे हैं—

(1) **अकलंक चन्द्र** - नंदीसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण और कुन्दकुन्दान्वय की पट्टावली के 73 वें गुरु वर्धमान कीर्ति के पश्चात् और ललित कीर्ति के पूर्व इनका उल्लेख मिलता है। समय है 1199-1200 ई., ग्वालियर पट्टान्तर्गत।

(2) **अकलंकत्रैविद्य** - मूलसंघ, देशीयगण, पुस्तकगच्छ, कोण्डकोण्डान्वय कोल्हापुरीय शाखा के विद्वान् थे। इनका समय विक्रम की 12वीं सदी है।

(3) **अकलंक पण्डित** - इनका उल्लेख श्रवणगोलस्थ चन्द्रगिरि के शिलालेख सं. 169 में पाया जाता है जो सन् 1098 ई. में उत्कीर्णित हुआ था।

(4) **अकलंकदेव** - इन्होंने द्रविड़ संघ नन्द्यान्वय के वादिराज मुनि के शिष्य महामण्डलाचार्य राजगुरु पुष्पसेन मुनि के साथ शक संवत् 1178 (1256 ई.) में हुम्बच में समाधिमरण किया था। ये पुष्पसेन के सधर्मा तथा गुणसेन सैद्धान्तिक के गुरु थे।

(5) **अकलंक मुनिय** - ये नंदीसंघ, बलात्कारगण के जयकीर्ति के शिष्य, चन्द्रप्रभ के सधर्मा तथा विजयकीर्ति, पाल्यकीर्ति, विमलकीर्ति, श्रीपालकीर्ति और आर्यिका चन्द्रमती के गुरु थे। संगीतपुर नरेश सालुवदेवराय इनका परम भक्त था। बंकपुर में इन्होंने नृप मादनएल्लप के मदोन्मत्त प्रधान गजेन्द्र को अपने तपोबल से शांत किया था। इनका स्वर्गवास शक सं. 1417 (1535 ई.) में हुआ था।

(6) **अकलंकदेव** - ये मूलसंघ, देशीयगण, पुस्तकगच्छ, कुन्दकुन्दान्वय में श्रवणवेल्लोल मठ के चारूकीर्ति पण्डित की शिष्य परंपरा के थे तथा संगीतपुर (दक्षिणी कनारा जिला) के भट्टारक थे। ये कर्नाटक शब्दानुशासन के कर्ता भट्टाकलंक देव के गुरु और संभवतया अकलंक मुनिय के प्रशिष्य थे। इनका समय सन् 1550 से 1575 ई. के लगभग प्रतीत होता है।

(7) **अकलंकदेव (भट्टाकलंकदेव)** - ये मूलसंघ, देशीयगण के विद्वान् तथा सुधापुर के भट्टारक थे। विजयनरेश वेंकटपतिराय (1586-1615 ई.) के द्वारा समादृत तथा कर्नाटक शब्दानुशासन नामक प्रसिद्ध कनडी व्याकरण और मंजरी मकरंद शोभकृत संवत्सर के रचयिता थे। समय 1604 ई. के लगभग।

(8) **अकलंक मुनिय** - देशीयगण, पुस्तकगच्छ के कनकगिरि (करकल) के भट्टारक थे। शक सं. 1735 (विक्रम सं. 1870—सन् 1813 ई.) में इन्होंने समाधिमरण किया था।

(9) **अकलंकदेव** - इन्हें अकलंक प्रतिष्ठापाठ या प्रतिष्ठाकल्प का रचयिता कहा जाता है। इसमें 9वीं सदी से लेकर सोमसेन के त्रिवर्णाचार (1702 ई.) तक के उल्लेख तथा उद्धरण पाये जाते हैं। इनका समय 18वीं सदी का पूर्वार्द्ध है।

(10) **अकलंक** - 'परमागमसार' नामक कन्नड़ ग्रंथ के रचयिता।

(11) **अकलंक** - चैत्यवन्दनादि प्रतिक्रमणसूत्र, साधुश्राद्ध प्रतिक्रमण और पदपर्याय मंजरी आदि ग्रंथों के रचयिता।

इस तरह श्रीमद्भद्रकलंकदेव स्वामी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व भारतीय वाङ्मय के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में उल्लेखनीय है; उन्होंने जैनशासन तथा जैनन्याय के क्षेत्र में मौलिक उपलब्धियाँ प्राप्त कीं तथा दुरूह और प्रामाणिक ग्रंथों की रचना कर भगवती भारती के भण्डार को समृद्ध और सम्पन्न किया है, ऐसे युगपुरुष को शत-शत नमन, शत-शत अभिनन्दन।

अंत में उन सभी मनीषी विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ जिनके ग्रंथों, लेखों तथा सूचनाओं के आधार पर यह आलेख परिपूर्ण हो सका।

1. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. 604
2. वही, पृ. 472
3. पार्श्वनाथचरित, श्री वादिराज कृत
4. एपीग्राफिका इंडिका III, पृ. 106
5. शामगढ़ (कोल्हापुर) का दानपत्र शक सं. 675, इंडियन एन्टीक्वेरी भाग 11, पृ. 11
6. मल्लिवेठा (शक सं. 1050 तदनुसार 1128 ई.) की प्रशस्ति में

श्रुति-कुटीर
68, विश्वास नगर
शाहदरा - दिल्ली 110032

भावना

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानविनयेषु ।

परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाखो मैत्री ॥ 1 ॥ स्वकायवाङ्मनोभिः कृतकारितानु-
मतविशेषणैः परेषां दुःखानुत्पत्तौ अभिलाषः मित्रस्य भावः कर्म वा मैत्री ।

वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः ॥ 2 ॥ वदनप्रसादेननयन-
प्रह्लादनेन रोमाञ्चोद्भवेन स्तुत्यभीक्षणसंज्ञासंकीर्तनादिभिश्च अभिव्यज्यमानाऽन्तर्भक्तिरागः
प्रकर्षेण मोदः प्रमोदः इत्युच्यते ।

दीनानुग्रहभावः कारुण्यम् ॥ 3 ॥ शारीरमानसदुःखाभ्यर्दितानां दीनानां प्राणिनां
अनुग्रहात्मकः परिणामः करुणस्य भावः कर्म वा कारुण्यमिति कथ्यते ।

रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताऽभावो माध्यस्थ्यम् ॥ 4 ॥ रागात् द्वेषाच्च कस्यचित् पक्षे पतनं
पक्षपातः तदभावात् मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः, मध्यस्थस्य भावः कर्म वा माध्यस्थ्यम् ।

तत्त्वार्थराजवार्तिक, 7.11

प्राणिमात्र में मैत्री, गुणीजनों में प्रमोद, दुःखी जीवों में करुणा तथा विरुद्धचित्तवालों
में माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए ।

मन-वचन-काय कृत-कारित और अनुमोदन हर प्रकार से दूसरे को दुःख न होने
देने की अभिलाषा को मैत्री कहते हैं । मुख की प्रसन्नता, नेत्र का आह्लाद, रोमाञ्च, स्तुति,
सद्गुण-कीर्तन आदि के द्वारा प्रकट होनेवाली अन्तरंग की भक्ति और राग प्रमोद है । शारीर
और मानस दुःखों से पीड़ित दीन प्राणियों पर अनुग्रहरूप भाव कारुण्य है । रागद्वेषपूर्वक
किसी एक पक्ष में न पड़ने के भाव को माध्यस्थ्य भाव-तटस्थ भाव कहते हैं ।

अनु. - प्रो. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

जिन-शासन के प्रभावक आचार्य अकलंक

— श्री रमाकान्त जैन

श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

अर्थात् उस जिन-शासन (जैन धर्म) की जय हो जो उन त्रैलोक्यनाथ (जिनेन्द्रदेव) का शासन (धर्म) है जिनका अमोघ लाञ्छन (निर्विवाद पहचान) परम गम्भीर स्याद्वाद सिद्धान्त है ।

यह श्लोक डॉ. बी.ए. साल्तोर ने सन् 1938 ई. में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'मेडिवल जैनज्म' में मंगलाचरण के रूप में प्रयुक्त किया है। यही श्लोक दक्षिण भारत में कर्णाटक राज्य में प्राप्त 8वीं शती ईस्वी से 12वीं शती ईस्वी तक के अनगिनत जैन शिलालेखों में मंगलाचरण के रूप में प्रयुक्त हुआ पाया गया है।

हुम्मच के सान्तर वंश के संस्थापक जिनदत्तराय का शिलालेख अब तक ज्ञात और उपलब्ध शिलालेखों में प्रथम शिलालेख है जिसमें यह मंगल-श्लोक प्रयुक्त हुआ है। इस लेख में यद्यपि वर्ष संख्या नहीं दी है, किन्तु सम्बत्सर का नाम 'साधारण' दिया है। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने 'जैन संदेश-शोधाङ्क 4', पृष्ठ 132-133 पर सान्तर वंश की वंशावली के परिप्रेक्ष्य में इस बात को दृष्टिगत रखते हुए कि 8वीं शती में सम्बत्सर 'साधारण' दो बार पड़ा था, सान्तर वंश के संस्थापक जिनदत्तराय और उसके द्वारा उत्कीर्ण कराये गये इस शिलालेख का समय 8वीं शती ईस्वी के मध्य के लगभग रहे होने की संभावना व्यक्त की है। तदनन्तर 875 ई. के सौंदत्ति के

पृथ्वीरामरट्ट के शिलालेख में और 980 ई. के चालुक्य तैलपदेव के सामन्त और सौंदत्ति के उक्त रट्टराज पृथ्वीराम के पौत्र शान्तिवर्मन द्वारा कण्डूरगण के मुनियों को दान दिये जाने सम्बन्धी शिलालेख में यह मंगल श्लोक प्रयुक्त हुआ पाया जाता है। 11वीं शती के 18 और 12वीं शती के 65 शिलालेखों, दानपत्रों आदि में भी इस श्लोक का मंगलाचरणरूप में प्रयोग हुआ पाये जाने का उल्लेख डॉ. जैन ने किया है।

यद्यपि और भी भिन्न-भिन्न मंगल श्लोक तत्कालीन जैन अभिलेखों और जैन शिलालेखों में प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु जितनी अधिक संख्या में उक्त श्लोक मंगलाचरण स्वरूप प्रयुक्त हुआ पाया गया है वह इसकी लोकप्रियता का परिचायक है। शिलालेखों और अभिलेखों में ही नहीं, दक्षिण भारत में मध्यकाल में रचे गये अनेक ग्रन्थों में भी इस श्लोक का मंगलाचरण के रूप में प्रयोग हुआ बताया जाता है और यही नहीं कितने ही जैनेतर अभिलेखों में भी इसे मात्र इस संशोधन के साथ कि 'जिनशासनम्' के स्थान पर 'शिवशासनम्' प्रतिस्थापित कर दिया गया, अपनाया गया बताया जाता है।

प्रभूत प्रयोग के कारण विद्वानों का ध्यान इस श्लोक की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। अपूर्व शब्द-विन्यासवाला और अर्थगाम्भीर्य से परिपूर्ण यह श्लोक स्याद्वाद सिद्धान्त के किसी दिग्गज आचार्य, भाषा-पण्डित और अत्यधिक प्रभावक विद्वान् द्वारा रचित होना चाहिये, इस बात में तो कोई सन्देह नहीं था, किन्तु इसका मूलस्रोत क्या है, रचयिता कौन है, इसकी जानकारी अब से लगभग 60 वर्ष पहले तक नहीं थी। यह अनुमान किया जाता था कि जिस प्रकार अनेक जैनेतर अभिलेखों का मंगल-श्लोक 'नमस्तुङ्गा...' महाकवि बाणभट्ट के 'हर्षचरित' के मंगलाचरण से अभिन्न सिद्ध हुआ है, यह श्लोक भी संभवतया किसी प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ का मंगल-श्लोक आदि रहा होगा। अकलंक रचित 'प्रमाणसंग्रह' का उल्लेख अकलंक के कई टीकाकारों ने किया था, किन्तु इसकी मूल या सटीक प्रति उपलब्ध नहीं हो पा रही थी। प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलालजी और न्यायाचार्य डॉ. महेन्द्रकुमारजी उसकी खोज में थे। अन्ततः पाटन के जैन पुस्तक भण्डार में उन्हें उक्त ग्रन्थ की प्रति प्राप्त हुई। इस ग्रन्थ को देखने पर विदित हुआ कि उक्त मंगल-श्लोक 'प्रमाणसंग्रह' का मंगल-श्लोक है और इसके रचयिता अकलंक हैं।

जैन परम्परा में अकलंक नाम के लगभग दो दर्जन आचार्य, विद्वान, मुनि हुए हैं जिनका परिचय-विवरण डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने अपने 'जैन-ज्योति: ऐतिहासिक व्यक्तिकोश-प्रथम खण्ड' में पृष्ठ 3-6 पर दिया है। उनमें क्रमांक 1 पर उल्लिखित अकलंकदेव (7वीं शती ईस्वी) को छोड़कर शेष अकलंक 11वीं शती के उपरान्त के विद्वान हैं।

महाकवि धनञ्जय की 'नाममाला' में एक श्लोक आया है—

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥

इसका अर्थ है— अकलंक का प्रमाण, पूज्यपाद का व्याकरण और धनञ्जय कवि का काव्य ये तीनों अपश्चिम रत्न हैं। धनञ्जय कवि का समय 8वीं शती ईस्वी के लगभग अनुमान किया जाता है। अतः जिन अकलंक के प्रमाण सम्बन्धी ग्रन्थ की कवि धनञ्जय ने इस प्रकार सराहना की है, वह डॉ. जैन द्वारा क्रमांक 1 पर उल्लिखित अकलंकदेव ही हैं और वही 'प्रमाणसंग्रह' के कर्ता और उक्त लोकप्रिय मंगल-श्लोक के रचयिता हैं।

विवेच्य अकलंकदेव या भट्टाकलंकदेव को आचार्य उमास्वामी (प्रथम शती ईस्वी) के 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'तत्त्वार्थराजवार्तिक टीका', आचार्य समन्तभद्र (दूसरी शती ईस्वी) की 'आप्तमीमांसा' अपरनाम 'देवागम स्तोत्र' पर 'अष्टशती टीका' तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में 'स्वोपज्ञवृत्तिसहित लघीयस्त्रय', 'न्यायविनिश्चय सवृत्ति', 'सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति' तथा 'प्रमाणसंग्रह सवृत्ति' की रचना करने का श्रेय है।

कहा जाता है कि समसामयिक मीमांसक विद्वान् कुमारिल भट्ट (600-660 ई.) ने अपने 'श्लोकवार्तिक' में अकलंक की 'अष्टशती' पर कटाक्ष किये थे और अकलंक ने कुमारिल भट्ट को उनके प्रत्युत्तर अपने 'न्यायविनिश्चय' में दिये।

कवि धनञ्जय के अतिरिक्त जिन परवर्ती आचार्यों, विद्वानों और साहित्यकारों ने अपनी कृतियों में इन अकलंक का स्मरण या उल्लेख किया है अथवा उनकी कृतियों से उद्धरण आदि दिये हैं, उनका ज्ञात संक्षिप्त विवरण निम्नवत है—

1. जिनदासगणि महत्तर ने अपनी 'निशीथचूर्णि' (676 ई.) में 'सिद्धिविनिश्चय' को 'प्रभावक शास्त्र' घोषित किया है।
2. 750 ई. के लगभग या उसके कुछ पूर्व हुए वृहद् अनन्तवीर्य, सगुणचन्द्र अपरनाम प्रभाचन्द्र और अनन्तकीर्ति प्रथम इनकी रचनाओं के प्रारंभिक व्याख्याता रहे।
3. 750 ई. के लगभग हुए 'न्यायावतार' के कर्ता सिद्धसेन पर अकलंक का प्रभाव व्यक्त है।
4. सिद्धसेन गणी ने अपने 'तत्त्वार्थभाष्य' (लगभग 750 ई.) में अकलंक के 'सिद्धिविनिश्चय' का उल्लेख किया है और उनकी 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' के कई दार्शनिक मन्तव्यों को भी ग्रहण किया है।
5. स्वामी वीरसेन ने 780 ई. में समाप्त अपनी विशालकाय 'धवला टीका' में 'पूज्यपाद भट्टारक' नाम से कई स्थलों पर अकलंक का उल्लेख किया है, तथा इसी नाम से उनके 'तत्त्वार्थभाष्य' (तत्त्वार्थराजवार्तिक) एवं 'सारसंग्रह' (प्रमाणसंग्रह सवृत्ति) से उद्धरण दिये हैं।
6. श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्रसूरि (समय लगभग 725-825 ई.) ने अपनी 'अनेकान्तजयपताका' में 'अकलंक न्याय' का स्पष्ट उल्लेख किया है और इनके दार्शनिक प्रकरणों में भी अकलंक का प्रभाव एवं अनुसरण व्यक्त होता है।

7. विद्यानन्दि स्वामी (लगभग 775-825 ई.) अकलंक के अनन्य भक्त एवं अन्यतम टीकाकार हैं। इनके प्रायः समस्त ग्रन्थों पर अकलंक के चिन्तन की छाप परिलक्षित होती है। स्वामी समन्तभद्र की 'आप्तमीमांसा' पर अकलंक ने 'अष्टशती' रची थी और विद्यानन्दि स्वामी ने 'अष्टसहस्री' के नाम से उसकी और विशद व्याख्या प्रस्तुत की।
8. हरिवंशपुराण (783 ई.) के प्रारम्भ में पुन्नाटसंघी जिनसेन सूरि ने समन्तभद्र और सिद्धसेन के उपरान्त अनेक व्याकरणों के ज्ञाता 'देवसंघ के देव' का सादर स्मरण किया है—

**इन्द्र चन्द्रार्क जैनेन्द्रव्याडि व्याकरणेक्षिणः।
देवस्य देवसंघस्य न बन्धतेगिरिः कथम्॥**

विद्वानों का अनुमान है कि यहाँ 'देव' से अकलङ्कदेव का अभिप्राय है।

9. 9वीं शती ईस्वी में हुए रविभद्रपादोंपजीवि अनन्तवीर्य भी अकलंक के अन्यतम टीकाकार और अनन्य भक्तों में रहे। उन्होंने भी मात्र 'देव' नाम से अकलंक का उल्लेख किया है।
10. आदिपुराणकार जिनसेनस्वामी (लगभग 790-850 ई.) ने अपने पुराण में श्रीपाल और पात्रकेसरि के साथ-साथ भट्टाकलंक के अति निर्मल गुणों को विद्वानों के हृदय पर सुशोभित होनेवाली मणिमाला की संज्ञा दी है।
11. सोमदेव सूरि (लगभग 945-975 ई.) ने अपने 'नीतिवाक्यामृत' में अकलंक का निम्नवत स्मरण किया है—

**सकल समयतर्केनाकलंकोऽसिवादिन,
न भवसिसमयोक्तो हंससिद्धान्तदेवः।
न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसित्वं,
वदसि कथं इदानीं सोगदेवेन साधर्म॥**

अकलंक की भाँति सोमदेव भी देवसंघ के ही आचार्य थे और उन्हीं के अनुयायी वादी (शास्त्रार्थी) गुरुओं की परम्परा में उत्पन्न एक महान शास्त्रार्थी थे। उनके द्वारा अकलंक की 'न्यायविनिश्चय' की टीका भी लिखी बताई जाती है।

12. इन्हीं के समकालीन अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त ने भी अपने 'महापुराण' में अकलंक का स्मरण किया है।
13. महापण्डित माणिक्यनन्दि (लगभग 965-1000 ई.) ने अपना 'परीक्षामुखसूत्र' अकलंक के वचन-समुद्र का मंथन करके बनाया है। इस सूत्र-ग्रन्थ में अकलंक के प्रति व्यक्त इनकी भक्ति को देखकर विद्वानों को यह भ्रम हो गया था कि यह अकलंक के साक्षात् शिष्य रहे हों।

14. श्वेताम्बराचार्य तर्कपंचानन अभयदेव सूरि (लगभग 1000 ई.) ने 'सन्मतिसूत्र' पर अपनी 'वादमहार्णव' नाम्नी टीका में अकलंक के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया है।
15. वादिराज जगदेकमल्लवादी (लगभग 1000-1035 ई.) ने अपने 'न्यायविनिश्चय विवरण' में अकलंक को 'तार्किकलोक-मस्तकमणि' तथा 'पार्श्वनाथ चरित' में 'शाक्यदस्युओं को दण्डित करनेवाला वादिसिंह तर्कभूवल्लभदेव' लिखा है।
16. नयनंदि (लगभग 1000-1045 ई.) ने अपने 'सकलविधिविधान' में इन्हें 'अकलङ्क विसमवाइय विहंडि' अर्थात् विषमवादियों का विहंडन करनेवाला लिखा है।
17. महापण्डित प्रभाचन्द्र (लगभग 1010-1060 ई.) अकलंक की कृतियों के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। उनके 'न्यायकुमुदचन्द्र' आदि ग्रन्थों में अकलंक के उल्लेख इतने भक्तिपूर्ण हैं कि अनेक विद्वान् उन्हें अकलंक का साक्षात् शिष्य समझने लगे। 'न्यायकुमुदचन्द्र' के तीसरे परिच्छेद के अन्त में उन्होंने अकलंकदेव को 'इतर मतावलम्बी गजेन्द्रों का दर्प नष्ट करनेवाला सिंह' लिखा है। अपने 'आराधना सत्कथा प्रबन्ध' में उन्होंने अनुश्रुति से प्राप्त अकलंक की कथा भी दी है।
18. मल्लिषेण सूरि ने अपने 'महापुराण' (1047 ई.) में निम्नवत् इनकी स्तुति की है—

**यन्नाम ग्रहणान्ष्टाः सदर्पवादि कुन्जराः।
जीयाद्देवोऽकलंकोऽसौ परवादीभ केसरी ॥**

19. शुभचन्द्र ने अपने 'ज्ञानार्णव' (लगभग 1050 ई.) में समन्तभद्र और देवनन्दी के पश्चात् तथा जिनसेन के पूर्व इनका उल्लेख किया है।
20. इन्द्रनन्दि ने अपने 'समयभूषण' (लगभग 1050 ई.) में सोमदेव, नेमिचन्द्र और प्रभाचन्द्र के पूर्व अकलंक का स्मरण 'महाप्राज्ञः' विशेषण के साथ किया है।
21. श्रीचन्द्रपण्डिताचार्य (लगभग 1063-66 ई.) ने अपने अपभ्रंश 'आराधना कथाकोश' में अकलंक की कथा दी है तथा अपने 'रत्नकरण्ड शास्त्र' में समन्तभद्र के पश्चात् और कुलभूषण, विद्यानन्दि, अनन्तवीर्य, वीरसेन, जिनसेन, चतुर्मुख, स्वयंभू आदि के पूर्व अकलंक का स्मरण किया है।
22. लघु अनन्तवीर्य (1105-1117 ई.) ने 'परीक्षामुख' की 'प्रमेयरत्नमाला टीका' में 'अकलंक शशांकेर्यतप्रकटीकृतमखिलमाननिभनिकरम्' शब्दों द्वारा इनकी प्रशंसा की है।
23. श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द्र सूरि (लगभग 1109-1172 ई.) ने अपने 'प्रमाण मीमांसा' आदि ग्रन्थों में अकलंकदेव के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है।
24. श्वेताम्बर आचार्य श्रीचन्द्र सूरि (लगभग 1116-1117 ई.) ने अपनी 'जीतकल्प वृहत्चूर्ण व्याख्या' में अकलंक के 'सिद्धिविनिश्चय' को 'प्रभावक शास्त्र' लिखा है।

25. श्वेताम्बर आचार्य वादिदेव सूरि (लगभग 1117-1169 ई.) ने अपने 'स्याद्वादरत्नाकर' (पृष्ठ 137) में "प्रकटित तीर्थान्तरीयकलङ्कोऽकलङ्कः" शब्दों द्वारा उन्हें मतान्तरों के दोषों को प्रकट करनेवाला बताया है।
26. श्वेताम्बराचार्य शांतिसूरि ने सिद्धसेन के 'न्यायावतार' पर वार्त्तिक रचे हैं और उनकी वृत्ति भी। यही ग्रन्थ सम्भवतया 'जैनतर्कवार्त्तिक' कहलाता है। इन वार्त्तिकों में अकलंक का प्रभाव स्पष्ट है। इन शान्तिसूरि की पूर्वावधि 993 ई. और उत्तरावधि 1147 ई. अनुमानित की गई है।
27. अनन्तसेन के शिष्य विमलदास (लगभग 1150 ई.) ने अपनी 'सप्तभंगीतरंगिणी' में 'भट्टाकलङ्कदेव' के नामोल्लेखपूर्वक उद्धरण दिये हैं।
28. पद्मप्रभमलधारिदेव (लगभग 1167-1217) ई.) ने 'नियमसार' की 'तात्पर्यवृत्ति' में अकलंक को 'तर्काब्जार्कः' लिखा है।
29. 'प्रमेयरत्नमाला' की 'न्यायमणि दीपिका टीका' में, अजितसेन पण्डित (लगभग 1175-1200 ई.) ने महाराज हिमशीतल की सभा में तारादेवी को घड़े में छिपाकर शास्त्रार्थ करनेवाले बौद्ध विद्वानों को अकलंक द्वारा वादविवाद में परास्त किये जाने का वर्णन किया है, तथा अन्त में 'अकलङ्करत्ननन्दिप्रभेन्दु सदनन्त' शब्दों द्वारा रत्ननन्दि, प्रभाचन्द्र और सदनन्तवीर्य के पूर्व अकलंक का उल्लेख कर स्तुति की गई है।
30. लघु समन्तभद्र (लगभग 1200 ई.) में 'अष्टसहस्री' की अपनी 'विषमपद तात्पर्य टीका' के मंगल-श्लोक में समन्तभद्र एवं विद्यानन्द के साथ-साथ अकलंक को भी 'देव' नाम से नमस्कार किया है तथा आगे 'सकल तार्किक चक्रचूडामणि मरीचिमेचकित चरणनखकिरणों भगवान् भट्टाकलंकदेवः' शब्दों द्वारा इनकी स्तुति की है।
31. चारूकीर्ति पंडिताचार्य (लगभग 1200-1225 ई.) ने 'प्रमेयरत्नमाला' की अपनी 'अर्थप्रकाशिका टीका' में महाराज हिमशीतल की सभा में बौद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त करनेवाले अकलंक मुनि की निम्नवत वन्दना की है— 'पृथ्वीमण्डलमण्डनायित महाराजाधिराजोत्तम, श्रीराजद्विमशीतल क्षितिपते-गोष्ठीमते सौगतान्। वादाययततो मदोद्धततया यो वाग्भरै जित्वरै, जित्वा श्लाघ्यतमोऽभवसपदि तं वन्देऽकलङ्कमुनिम्॥' उक्त टीका में अन्यत्र भी 'न्यायशास्त्रप्रवर्तनशिरामणिभिर्भट्टाकलङ्कमुनिभिस्तदवगाहनाय' आदि शब्दों द्वारा इनका गुणगान किया गया है।
32. सौख्यनन्दी (लगभग 1200 ई.) ने इनके 'लघीयस्त्रय' की प्रभाचन्द्रीय टीका 'न्यायकुमुदचन्द्र' की वृत्ति लिखी है।
33. लक्ष्मीभद्र (लगभग 1235 ई.) ने अपने 'एकान्त खण्डन' में इनका स्मरण किया है।

34. अभयचन्द्र सिद्धान्त, जिन्होंने 'लघीयस्त्रय' पर वृत्ति रची, ने भी लघु समन्तभद्र द्वारा प्रयुक्त उपर्युक्त विशेषणों का प्रयोग अकलंक के लिए किया है।
35. 'प्रवचन परीक्षा' आदि के कर्ता नेमिचन्द्र पण्डित (लगभग 1375-1425 ई.) ने अकलंक को अपनी भांति ब्राह्मणकुलोत्पन्न बताया है, तथा "विवाद विषयापन्नं ततः शास्त्रं सकर्तृकम्, दृष्टकर्तृकतुल्यत्वादकलङ्कादि शास्त्रवत्" आदि शब्दों से इनका उल्लेख किया है।
36. भट्टारक धर्मभूषण (लगभग 1385-1415 ई.) ने अपनी 'न्यायदीपिका' में अनेक स्थलों पर 'तदुक्तं भगवद्भिरकलङ्कदेवैः.....' शब्दों के साथ इनके 'न्यायविनिश्चय' और 'राजवार्तिक' आदि से उद्धरण दिये हैं।

37. विद्यानंदि मुमुक्षु (लगभग 1442-1480 ई.) ने अपने 'सुदर्शन चरित्र' में—

यस्ययशोरवेर्नष्टा कृष्णास्याबौद्धकौशिकाः ।
स्तष्येऽकलङ्कूसरि तं मोहसारङ्गकन्धरम् ॥
तथा

यस्य वाक्किरणैर्नष्टा बौद्धोधाः कौशिकाः ।
भास्करस्योदये स स्यादकलङ्कः श्रिये कविः ॥

के रूप में इनकी स्तुति की है।

38. ब्रह्म अजित ने अपने 'हनुमच्चरित' में (लगभग 1445 ई.) में इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि उन्होंने बौद्धों की बुद्धि को विधवा बना दिया था—

अकलङ्कगुरूर्जीयादकलङ्कपदेश्वरः ।
बौद्धानां बुद्धिवैधव्यदीक्षागुरुरुदाहतः ॥

39. पाण्ड्यक्षमापति (1457 ई.) ने अपने 'भव्यानन्दशास्त्र' में इनकी स्तुति "गुणैरनिन्धैकरकलङ्कमीडे" रूप में की है।
40. श्रुतसागर सूरि (लगभग 1465-1505 ई.) ने अपनी 'तत्त्वार्थवृत्ति' के मंगल-श्लोक "श्रीवर्द्धमानमकलंकम् समन्तभद्र श्रीपूज्यपाद....." में इनका स्मरण किया है।
41. ब्रह्मनेमिदत्त ने अपने 'आराधना कथाकोश' (1518 ई.) में अकलंक और निष्कलंक की कथा दी है, जो अनुश्रुतियों पर आधारित है।
42. वर्धमान मुनीन्द्र ने अपने 'दशभक्त्यादि महाशास्त्र' (1542 ई.) में समन्तभद्र के उपरान्त और विद्यानन्दि के पूर्व अकलंक महर्द्धिक की स्तुति निम्नवत की है—

जीयात् समन्तभद्रस्य देवागम संज्ञिनः,
स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलङ्को महर्द्धिकः ।

43. भट्टारक शुभचन्द्र ने अपने 'पांडवपुराण' (1551 ई.) में बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ के प्रसंग में अकलंक द्वारा पादप्रहारपूर्वक घटस्थापित मायादेवी का विस्फोट किये जाने का उल्लेख किया है—

अकलङ्कोङ्कलङ्कः सकलौ कलयंतुश्रुतं ।
पदेन ताडितापेन मायादेवी घटास्थिता ॥

44. 'कर्णाटक शब्दानुशासन' के कर्ता भट्टाकलंकदेव (1586-1615 ई.) ने अकलंकदेव के न्याय एवं व्याकरण शास्त्र विषयक पाण्डित्य की प्रशंसा की है ।
45. अभिनव सोमसेन ने अपने 'रामपुराण' (1599 ई.) में—

पूज्यपाद प्रभाचन्द्रकलङ्कादीन्यतीश्वरान् ।
नमामिधर्मतीर्थस्यकर्तृनप्राणिहितङ्करान् ॥

पूज्यपाद और प्रभाचन्द्र के साथ अकलंक को यतीश्वर, धर्मतीर्थकर्ता और प्राणिहितकर के रूप में नमस्कार किया है ।

46. श्वेताम्बराचार्य यशोविजय (1631-1686 ई.) ने अपने 'अष्टसहस्री विवरण' आदि दार्शनिक ग्रन्थों में अकलंक और उनके न्यायदर्शन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है ।
47. रामकृष्ण मिश्र (18वीं शती ई.) ने अपनी 'भुवनप्रदीपिका' में अकलंकदेव द्वारा तुण्डीर देश के राजा हिमशीतल की सभा में कलि 1125 पिंगल में बौद्धों को पराजित किये जाने का उल्लेख किया है ।
48. चन्द्रसागर वर्णी ने तत्समय कर्णाटक देश में प्रचलित अकलंक सम्बन्धी अनुश्रुतियों को संकलित कर 'अकलंकचरिते' अपरनाम 'हिमशीतलकये' की रचना 1803-1804 ई. में सम्पन्न की ।
49. पं. देवचन्द्र ने अपने कन्नड़ इतिहास 'राजावलिकये' (1805-1842 ई.) में चन्द्रसागर वर्णी के उक्त 'अकलंकचरिते' में संकलित अनुश्रुतियों के आधार पर अकलंक सम्बन्धी कथा कही है ।

विवेच्य भट्ट अकलंकदेव के सम्बन्ध में उपर्युक्त साहित्यिक उल्लेखों से निम्नलिखित तथ्य विदित होते हैं—

- (क) अकलंक दिगम्बर और श्वेताम्बर उभय आम्नायों के विद्वानों के समानरूप से श्रद्धाभाजन रहे हैं । इनकी कृतियां विद्वानों के लिए प्रेरणास्रोत रहीं । फलस्वरूप उन पर टीकाएं, वृत्तियां व भाष्य रचे जाते रहे और उनकी कृतियों से उद्धरण दिये जाते रहे ।
- (ख) सातवीं शती में ही इनकी कृति 'सिद्धिविनिश्चय' को 'प्रभावक शास्त्र' घोषित कर दिया गया था ।

- (ग) आठवीं शती में इनका 'प्रमाण' अपश्चिचमरत्न माना जाने लगा था। श्वेताम्बर आचार्य इनके द्वारा प्रतिपादित 'न्यायशास्त्र' को 'अकलङ्कन्याय' के नाम से अभिहित करने लगे थे।
- (घ) इन्हें 'पूज्यपाद भट्टारक', 'देव', 'भट्टाकलङ्क', 'तार्किकलोकमस्तकमणि', 'तर्काब्जार्क', 'सकल तार्किक चक्रचूड़ामणि', 'वादिसिंह तर्क भूवल्लभदेव', 'इतर मतावलम्बी गजेन्द्रों का दर्प नष्ट करनेवाला सिंह', 'परवादीभ केसरी', 'महाप्राज्ञ', 'महर्द्धिक' आदि नामों, विशेषणों और विरुद्धों से अभिहित किया गया।
- (ङ) 10-11वीं शती में अकलंक द्वारा बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित करने की घटना अनुश्रुति बन चुकी थी और उनके जीवन की घटनाएं पौराणिक आख्यान का रूप धारण करने लगी थी जो उत्तरोत्तर और पल्लवित होती गयी। अकलंक की बौद्धों पर ऐतिहासिक वादविजय का स्थान महाराज हिमशीतल की राजसभा के रूप में लगभग 11-12वीं शती में प्रसिद्ध हो चला था।
- (च) न्यायशास्त्र और व्याकरण में पण्डित माने जानेवाले इन अकलंकदेव के ब्राह्मण कुलोत्पन्न होने की बात प्रचलित हुई।

स्वयं अकलंक ने 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' की प्रशस्ति में निम्नपद्य में अपने को लघुहव्वनृपति का पुत्र बताया है—

जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।

अनवतरतनिखिल विद्वज्जननुतविधः प्रशस्तजनहृद्यः॥

ये लघुहव्व नृपति कौन थे, किस प्रदेश के राजा थे, किस कुल में उत्पन्न हुए थे और किस धर्म को माननेवाले थे—आदि प्रश्नों के उत्तर इस पद्य अथवा अन्य किसी स्रोत से अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। 'राजवार्तिक' के उपर्युक्त श्लोक के स्वयं अकलंककृत होने में भी कुछ विद्वानों को संदेह है। तथापि यह निश्चित है कि अकलंक दक्षिण भारत के रहने वाले थे। परम्परा अनुश्रुति उन्हें देवगण का आचार्य सूचित करती है और कर्णाटकीय अनुश्रुति उन्हें देशीगण पुस्तकगच्छ का।

उन्होंने बौद्ध दर्शन का गहन अध्ययन किया था। साथ ही अन्य भारतीय दर्शनों का उन्हें प्रगाढ़ ज्ञान था, वे पूर्ववर्ती जैनाचार्यों के साहित्य से भलीभाँति परिचित थे। 'पातन्जलि महाभाष्य' (लगभग 150 ई. पू.) की अकलंक ने आलोचना की है। शब्दाद्वैतवादी या स्फोटवादी भर्तृहरि (590-650 ई.) के 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ के अकलंक ने उद्धरण भी दिये और उनके मत का खण्डन भी किया। बौद्धाचार्य बसुबन्धु (चौथी शती ई.) के 'अभिधर्मकोश' से अकलंक ने प्रमाण उद्धृत किये हैं। बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग (345-425 ई.) के मत का उन्होंने उल्लेख किया है और उनके 'प्रमाणसमुच्चय' ग्रन्थ से कारिका भी उद्धृत की हैं। बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति (635-650 ई.) के ग्रन्थों का अकलंक ने अच्छा मंथन किया प्रतीत होता है। अपनी कृतियों में कहीं-कहीं उनकी शैली भी अपनायी है और उनका खण्डन भी किया है। जैनाचार्य श्रीदत्त

(अनुमान्यतः चौथी शती ई.) के 'जल्पनिर्णय' का अकलंक के 'सिद्धिविनिश्चय' के 'जल्पसिद्धि अधिकार' पर प्रत्यक्ष प्रभाव बताया जाता है और कहा जाता है कि उन्होंने उमास्वामी के 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' पर अपने 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' की रचना में देवनन्दी पूज्यपाद (475-525 ई.) की 'सर्वार्थसिद्धि टीका' को समाहित किया है। बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के 'त्रिलक्षणसिद्धान्त' के खण्डन में पात्र-केसरी स्वामी (लगभग 600-625 ई.) जिनका अकलंक ने स्वामी नाम से उल्लेख किया है, द्वारा लिखे गये 'त्रिलक्षणकदर्शन' नामक ग्रन्थ से उद्धरण भी दिये हैं।

'अकलंकस्तोत्र' के नाम से प्राप्त 16 पद्यों की रचना को स्वयं अकलंक की कृति भी कहा जाता है, उसके निम्नलिखित 13वें पद्य में इस बात का उल्लेख है कि उन्होंने राजा हिमशीतल की सभा में क्योंकि बौद्ध विद्वानों का भाण्डा फोड़कर उन्हें शास्त्रार्थ में पराजित किया था—

नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणं केवलं,
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्धया मया।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विद्ग्धात्मर्नो
बौद्धीधान्सकलान्विजित्य सघटः (पाठान्तर सुगतः) पादेन विस्फलितः ॥

यह उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारत में, विशेषकर कर्णाटक राज्य में, प्राप्त 10वीं शती ईस्वी से 16वीं शती ईस्वी तक के कम से कम 28 शिलालेखों में विवेच्य अकलंकदेव का स्पष्ट नामोल्लेख के साथ स्मरण किया गया है और उनका गुणगान भी हुआ है। श्रवणबेलगोला में चन्द्रगिरि की पार्श्वनाथ बसति में एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण शक संवत् 1050 (1128 ई.) के लेख, जो मदन महेश्वर मल्लिनाथ द्वारा रचित और द्रमिलसंघ-नन्दिगण-अरूङ्गलान्वय के मल्लिषेण मलधारि की स्मारक प्रशस्ति स्वरूप हैं, में अकलंक द्वारा बौद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित करने की घटना राजा साहसतुंग को सुनाने का वर्णन करते हुए 'अकलङ्कस्तोत्र' का उपर्युक्त श्लोक भी अंकित है और यह श्लोक बोगादि से प्राप्त शक संवत् 1067 (1145 ई.) के द्रमिलसंघी एक अन्य शिलालेख में भी पाया गया है।

'अकलंकस्तोत्र' में उक्त वादविजय का वर्ष भी निम्नवत अंकित है—

विक्रमाङ्क शकाब्दीय शतसप्त प्रमाजुषि।
कालेडकलङ्क यतिनोबौद्धर्वादो महानभूत् ॥

इस श्लोक में प्रयुक्त 'विक्रमांक शकाब्दीय' शब्दों के कारण कतिपय विद्वानों ने इसे शक संवत् 700 अर्थात् 778 ई. तथा कुछ अन्य ने विक्रम संवत् 700 अर्थात् 643 ई. माना है, और इस प्रकार विवेच्य भट्ट अकलंकदेव के समय के सम्बन्ध में मुख्यतया दो मत हो गये, जिनमें 135 वर्ष का अन्तर है। किन्तु सातवीं-आठवीं शती ई. में पाये गये परवर्ती साहित्यिक उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि उक्त ऐतिहासिक वाद-विवाद की तिथि विक्रम संवत् 700 अर्थात् 643 ई. मानना ही समीचीन होगा।

डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने अपनी 'दि जैना सोर्सेज ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ एन्स्येन्ट इण्डिया' में अकलंक के आश्रयदाता साहसतुंग के पश्चिमी चालुक्य सम्राट विक्रमादित्य प्रथम (642-681 ई.) जो पुलकेशिन द्वितीय (606-642 ई.) का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था, से अभिन्न होने की संभावना व्यक्त की है। उनके अनुसार अकलंक अनुश्रुति के राजा हिमशीतल चीनी यात्री ह्वेनसांग के भारत भ्रमण (643 ई.) के समय में विद्यमान कलिंग नरेश 'त्रिकलिंगाधिपति' प्रतीत होते हैं जिनकी राजसभा में रत्नपुर में महायानी बौद्ध विद्वानों से उक्त ऐतिहासिक वाद-विवाद 643 ई. में हुआ था। अकलंक के गुरु रविगुप्त को उन्होंने ऐहोल शिलालेख (634 ई.) के रचयिता रविकीर्ति से चीन्हा है, और कन्हेरी के बौद्ध मठ में अकलंक द्वारा बौद्ध दर्शन का अध्ययन करने का उल्लेख किया है।

अन्य अनेक प्राचीन भारतीय मनीषियों की भांति यह अकलंकदेव भी विगत 200 वर्षों में जैन विद्वानों के अतिरिक्त जैनेतर भारतीय विद्वानों तथा यूरोपवासी प्राच्यविदों, पुरातत्वविदों, राजनीतिक-साहित्यिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के निर्माताओं का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल रहे जिन्होंने इनके समय, इतिवृत्त, कृतित्व आदि के बारे में ऊहापोह की। प्रो. विल्सन अकलंक के इतिहास पर प्रकाश डालनेवाले प्रथम यूरोपीय प्राच्यविद् थे। उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्नल मेकेन्जी के नोट्स, जो 'राजावलिकथे' के रचयिता पं. देवचन्द्र से प्राप्त जानकारी पर आधारित थे, को व्यवस्थित और सम्पादित कर प्रकाशित किया था। इसी कड़ी में जानमुरडोख, बी.एल. राइस, राबर्ट सिवेल, थामस फोक्स लुइस राइस, एडवर्ड राइस, जे. एफ. फ्लीट, ई. थामस, ए.बी.कीथ, विन्टरनिट्ज के नाम जुड़े हैं। जैनेतर भारतीय विद्वानों में सतीशचन्द्र विद्याभूषण, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकार, के.बी. पाठक, एम.एस. रामास्वामी आर्यंगर, ए.एस. आल्लेकर, डॉ. बी.ए. साल्लोर, डॉ. डी.सी. सरकार, आर.नरसिंहाचार्य, शेषागिरि राओ, पी.बी. देसाई, डॉ. श्रीकंठ शास्त्री प्रभृति तथा जैन विद्वानों में डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, पं. सुखलाल तथा डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य के अतिरिक्त पं. नाथूराम प्रेमी, पं. जुगलकिशोर मुख्तार, बा. कामताप्रसाद, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, डॉ. हीरालाल, डॉ. ए.एन. उपाध्ये, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री प्रभृति इन अकलंकदेव पर कार्य करनेवालों में उल्लेखनीय हैं।

यह प्रसन्नता का विषय है कि वर्तमान शती में अकलंक की प्रायः सभी कृतियों का अधिकारी विद्वानों द्वारा कुशल सम्पादन और प्रकाशन हो चुका है। इनकी कृतियाँ इनकी अद्वितीय प्रतिभा, अगाधविद्वता, प्रौढ़ लेखनी, गूढ़ अभिसंधि, अपूर्व तार्किकता एवं वाग्मिता, जैनदर्शन की प्रभावना की उत्कट अभिलाषा, उदात्त कारुण्य भाव, अनेकान्तदर्शन पर उनके पूर्ण अधिकार, जैनेतर दार्शनिक साहित्य के गंभीर आलोडन और जैन सिद्धान्त, संस्कृत भाषा एवं व्याकरण में विचक्षण पाण्डित्य की परिचायक हैं।

अपने समय से लेकर आज तक अविरल विद्वज्जन को अपने पाण्डित्य से मुग्ध करनेवाले तथा परमगम्भीर स्याद्वाद जिसकी निर्विवाद पहचान है ऐसे जिनशासन की चिरकाल तक प्रभावना करनेवाले सातवीं शती ईस्वी में हुए इन महान आचार्य भट्ट अकलंकदेव को मेरा शत-शत नमन है।

ज्योतिनिकुंज, चारबाग,
लखनऊ-226004

व्रती

निःशल्यो व्रतीः ।

अनेकधा प्राणिगणशरणाच्छल्यम् ॥ 1 ॥ विविधवेदनाशलाकाभिः प्राणिगणं शृणाति
हिनस्ति इति शल्यम् ।

आबाधकत्वादुपचारसिद्धिः ॥ 2 ॥ यथा शरीरानुप्रवेशात् काण्डादिप्रहरणं शरीरिणो
बाधाकरं शल्यं तथा कर्मोदयविकारोऽपि शारीरमानसबाधाहेतुत्वात् शल्यमिव शल्यमित्युपचर्यते ।

तत्रिविधं मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात् ॥ 3 ॥ तदेतच्छल्यं त्रिविधं वेदितव्यम् । कुतः?
मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात् । माया निकृतिर्वञ्चनेत्यनर्थान्तरम्, विषयभोगाकाङ्क्षानिदानम्,
मिथ्यादर्शनगतत्त्वश्रद्धानम् । एतस्मात्त्रिविधाच्छल्यानिष्कान्तो निःशल्यो व्रतीत्युच्यते ।

तत्त्वार्थराजवार्तिक, 7.18

शल्यरहित व्रती होता है ।

अनेक प्रकार की वेदनारूपी सुइयों से प्राणी को जो छेदें वे शल्य हैं । जिस प्रकार शरीर में चुभे हुए काँटा आदि प्राणी को बाधा करते हैं उसी तरह कर्मोदयविकार भी शारीर और मानस बाधाओं का कारण होने से शल्य की तरह होने से शल्य कहा जाता है । 1-2 ।

शल्य तीन प्रकार की है - माया, मिथ्यादर्शन और निदान । माया अर्थात् वंचना, छल-कपट आदि । विषयभोग की आकांक्षा निदान है । मिथ्यादर्शन अर्थात् अतत्त्वश्रद्धान । इन तीन शल्यों से निकला हुआ (तीन शल्यों से रहित) व्यक्ति व्रती होता है ।

अनु. - प्रो. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

अनेक अलंकरणों से अलंकृत आचार्य अकलंकदेव

— डॉ. कपूरचंद जैन

जैन न्याय के पितामह 'प्रखर तार्किक', 'सफल तार्किक', 'चक्रचूड़ामणि', 'जिनाधीश', 'अशेष कुतर्क विभ्रमतमोनिनिर्मूलोन्मूलकः', 'तार्किक लोक मस्तक मणिः', 'समदर्शी वार्तिकार', 'स्याद्वादविद्याधिपति', 'तर्क भूवल्लभ', 'वादिसिंहः', 'स्याद्वादामोक्षध-जिह्वे', 'तार्किक चक्रेश्वर', 'ताराविजेता', 'जिनसमय दीपक', 'जिनमतकुवलय शशांक', 'जिनशासनालंककर्ता', 'महामति', 'भट्टाकलंक', 'सौगतादि खण्डनकर्ता', 'समन्तादकलंकः', 'शास्त्रविद मुनीनां अग्रेसरः', 'सूरिः', 'मिथ्यान्धकार विनाशकः', 'अखिलार्मप्रकाशकः', 'स्याद्वाद न्यायवादि', 'अशेषकुतर्क विभ्रमतमोनिनिर्मूलकर्ता', 'अगाध कुनीति सरित शोषकः', 'स्याद्वाद किरण प्रसारक', 'अकलंक भानुः', 'तर्काब्जक', 'विद्वदहृदय मणिनालः', 'प्रमाणवेता', 'नरसुरेन्द्रवन्दनीयः', 'तार्किक लोक मस्तक मणिः', 'समस्तमतवादि करीन्द्रदर्पमुन्मूलकः', 'स्याद्वाद केसरी', 'पंचाननः', 'अकलंक शशांक', 'परहितावदान दीक्षितः', 'वृत्तिकारः', 'विगलिततिमिरादिकलंकः', 'निरस्तग्रहो परागादि उपद्रवः', 'विगलित ज्ञानावरणादि द्रव्य', 'कर्मात्मकलंक', 'सकलतार्किक चूड़ामणि', 'जिनतुल्य', 'युगप्रवर्तक', 'वादविजेता', 'अकलंकधीः', 'भाष्यकारः', 'बौद्धबुद्धिवैधव्यः दीक्षागुरुः' आदि उपाधियों से अलंकृत अकलंकदेव ने किस काल में भारत वसुन्धरा को अपने जन्म से पवित्र बनाया था, यह 'इदमित्थं' कह पाना आज भी सम्भव नहीं है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने भव्यजीवों के कल्याण का मार्ग

प्रशस्त करने, कुवादियों के कुतर्क-प्रासादों को ध्वस्त करने, जैनधर्म/न्याय को विश्वविजयी बनाने के बाद भी अपने सन्दर्भ में कहीं कुछ उल्लेख नहीं किया है। इसे काल का प्रभाव कहा जाए या उन आचार्यों/विद्वानों/इतिहासविदों/आलोचकों की निस्पृहता। फिर भी विद्वानों ने उनके पूर्वापर प्रसंगों/उल्लेखों के आधार पर उनका समय निर्धारित करने का सफल प्रयत्न किया है।

अकलंकदेव के समय के सन्दर्भ में न केवल भारतीय विद्वानों अपितु पाश्चात्य विद्वानों ने भी पर्याप्त गवेषणा की है। विदेशी विद्वानों में डॉ. पीटर्सन, डॉ. लुइस राईस, डॉ. एम. विन्टरनिट्ज, डॉ. ए.वी. कीथ, डॉ. एफ. डब्ल्यू थामस के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतीय विद्वानों में डॉ. के.बी. पाठक, डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण, डॉ. आर.जी. भाण्डारकर, पं. नाथूराम प्रेमी, पं. कामताप्रसाद, पं. सुखलाल संघवी, डॉ. बी.एस. सालेतोर, पं. जुगलकिशोर मुख्तार, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री आदि ने इस विषय में गहन अध्ययन किया है। इस विषय में दो मत प्रमुख रूप से सामने आते हैं। प्रथम मत अकलंकदेव का समय सातवीं शताब्दी मानता है। इसके समर्थक श्री पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री, श्रीकण्ठ शास्त्री, आर. नरसिंहाचार्य, पं. जुगलकिशोर मुख्तार, डॉ. ए.एन. उपाध्ये, डॉ. ज्योतिप्रसाद आदि हैं।

द्वितीय मत अकलंक को आठवीं शती के उत्तरार्द्ध में रखे जाने के पक्ष में है। इस मत को माननेवालों में पं. नाथूराम प्रेमी, डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, डॉ. के.बी. पाठक, डॉ. कीथ, डॉ. थामस, डॉ. भाण्डारकर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

अकलंक के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण प्रसंग उनके द्वारा जैनधर्म की रक्षा किया जाना है। जिसमें उनके भाई निकलंक का प्राणोत्सर्ग अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। अकलंक द्वारा बौद्धों से शास्त्रार्थ कर उन्हें परास्त करना तथा तारादेवी, जो परदे के पीछे घट में विराजमान थी और शास्त्रार्थ कर रही थी, के घट को अपने ज्ञान के प्रभाव से जानकर नष्ट करना भी अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है।

पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने उन्हें दक्षिण भारत का निवासी बताया है। उन्होंने कथा-कोष में आई अकलंक विषयक कथाओं का मान्यखेट आदि के सन्दर्भ को लेकर उसकी प्रामाणिकता के ऊपर सन्देह उत्पन्न किया है। पं. कैलाशचन्द्रजी के अनुसार अकलंक राजपुत्र थे और उनके पिता का नाम लघुहत्व था।

जैन न्यायशास्त्र को जो योगदान अकलंकदेव ने दिया है वह अपना उदाहरण आप हैं। उन जैसा तार्किक शायद ही जैन न्याय के इतिहास में कोई हो। उनके द्वारा दी गयी प्रमाण व्यवस्था को दिग्म्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपनी-अपनी प्रमाण मीमांसा विषयक कृतियों में बिना किसी हेर-फेर के स्वीकार किया है।

आचार्य अकलंकदेव की कृतियों में तत्त्वार्थवार्तिक (अपरनाम तत्त्वार्थवार्तिक व्याख्यालंकार, राजवार्तिक या तत्त्वार्थ राजवार्तिक), अष्टशती, लघीय स्त्रय (स्ववृत्ति सहित), न्याय विनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय (सवृत्ति), प्रमाणसंग्रह उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त स्वरूप-सम्बोधन, अकलंक स्तोत्र, अकलंक प्रतिष्ठापाठ, अकलंक प्रायश्चित्त उपलब्ध हैं किन्तु ये विवादग्रस्त कृतियाँ हैं।

अकलंकदेव की निर्विवाद विद्वत्ता, तार्किकता और न्याय शास्त्र विशेषतः जैन न्याय में अप्रतिम अवदान के कारण परवर्ती आचार्यों ने उनका उल्लेख बड़े ही सम्मान के साथ किया है, साथ ही अनेक उपाधियों से भी उन्हें अलंकृत किया है। विशेषतः दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रदेश में स्थित अनेक मन्दिरों-बस्तियों में उत्कीर्ण विभिन्न शिलालेखों में अकलंक का नाम भगवान महावीर की विश्रुत परम्परा में गौरव के साथ लिया गया है। अनेक ग्रन्थों में उनके नाम का उल्लेख बड़े ही सम्मान के साथ किया गया है। इनमें उपर्युक्त अनेक उपाधियों के साथ उनका उल्लेख है।

हुम्मच के पञ्चत्वस्ति प्राङ्गण में 1077 ई. में लिखित संस्कृत तथा कन्नड भाषामय लेख में उन्हें 'स्याद्वादामोधजिह्वे' तथा 'वादिसिंह' उपाधियों से अलंकृत किया गया है²। कल्लूरगुडड (शिमोगा-परगना) में सिद्धेश्वर मन्दिर की पूर्व दिशा में पड़े हुए पाषाण पर उत्कीर्ण लेख में अकलंकदेव को 'तार्किक चक्रेश्वर' के रूप में उल्लिखित किया गया है³। यह शिलालेख 1121 ई. का है। चन्द्रगिरि पर्वत की पार्श्वनाथ वसति में एक स्तम्भ पर लिखित मल्लिषेण प्रशस्ति (शक सं. 1050) में अकलंक की 'तारा विजेता' के रूप में स्तुति की गई है। यथा—

तारायेन विनिर्जिता घट-कुटी गूढावतारा समं
बौद्धैर्यो धृत-पीठ-पीडित कुदृग्देवास्त सेवाञ्जलिः।
प्रायश्चित्तमिवाद्भिन्नवारिज रज-स्नानं च यस्याचरत्
दोषाणां सुगतस्य कस्य विषयो देवाकलंकः कृती॥⁴

उक्त शिलालेख से यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने राजा हिमशीतल की सभा में बौद्धों को परास्त किया था। यथा—

नाहंकार वशीकृतेन मनसा न द्वेषिणां केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्य बुद्धयामया
राज्ञःश्री हिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धोधान्सकलान्विजित्य सुगतः पादेन विस्फोटितः॥⁵

बेलूर के शक सं. 1059 के शिलालेख में उन्हें 'जिनसमय दीपक' कहा गया है⁶। तारा विजेता के रूप में उनकी स्तुति बोंगादि (1145 ई.) के एक भग्न शिलालेख में भी की गयी है।⁷

हुम्मच के 1147 ई. के एक खम्भे पर उत्कीर्ण संस्कृत-कन्नड भाषामय शिलालेख में उन्हें 'जिनमत कुवलय शशांक' कहा गया है⁸। चन्द्रगिरि पर्वत के ही महानवमी मंडप के स्तम्भ पर उत्कीर्ण एक शिलालेख में अकलंकदेव को 'महामति' और 'जिनशासनालंकृता' कहा गया है। यह लेख शक सं. 1085 का है।⁹ जोडिवसवनपुर में हुण्डि-सिद्धन चिक्क के खेत में पाये गये संस्कृत-कन्नड भाषामय 1183 ई. के शिलालेख में अकलंकदेव को अपनी प्रबल शास्त्रार्थ विजयों के द्वारा बौद्ध पण्डितों को मृत्यु तक का आलिङ्गन करानेवाला बताया गया है। यथा—

तस्याकलंक देवस्य महिमा केन वर्ण्यते।
यद् वावय खड्गघातेन हतो बुद्धो विबुद्धिसः॥¹⁰

विन्ध्यगिरि पर्वत पर सिद्धरवस्ति में उत्तर की ओर एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण शिलालेख में अकलंकदेव को 'भट्टाकलंक', 'सौंगतादि खण्डनकर्ता' तथा 'समन्तादकलंकः' कहा है।¹¹

सिद्धरवस्ति के ही एक अन्य स्तम्भलेख में अकलंक 'शास्त्रविद', 'मुनीनां अग्रेसर', 'सूरि', 'मिथ्यान्धकार विनाशक' और 'अखिलार्थ प्रकाशक' कहे गये हैं। यथा—

ततः परं शास्त्रविदां मुनीनाम ग्रेसरोऽ मूदकलंक सूरिः।
मिथ्यान्धकारस्थगिता खिलार्था प्रकाशितायस्य वचोमपूरवैः॥¹²

सोंदा (उत्तर कन्नड) मैसूर के 1607 ई. के एक शिलालेख में 'स्याद्वाद न्यायवादि' के रूप में अकलंक स्तुत हैं।¹³

इनके अतिरिक्त इंचवाडि (मैसूर) के 10वीं शती के सुकदरे (होणकेरी परगना) के 1020 ई., बादामी 1039 ई., यल्लादहल्लि 1054 ई., कडवन्ति 1060 ई., बन्दतिके 1074 ई., वलगाव्ने 1077 ई., आलहल्लि 1120 ई., चामराजनगर 1117 ई., कल्लूरगुडड 1121 ई., चल्लग्राम शक सं. 1047, वेलूर 1059 (शक) आदि लगभग 500 शिलालेखों में अकलंक का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया गया है।

अकलंक का परवर्ती जैन साहित्य तो उनके गुणानुवाद से भरा पड़ा है। और हो भी क्यों न? जैन न्याय को उनका अवदान अप्रतिम है, जैनधर्म की रक्षा का उन जैसा उदाहरण इतिहास में दूसरा नहीं मिलता। कुवादियों को शास्त्रार्थ में पराजित करनेवाले अकलंक हम सभीके वन्दनीय हैं। अकलंक के ग्रन्थों के टीकाकारों ने उनका नाम जिस सम्मान के साथ लिया है, उसके वे शत प्रतिशत अधिकारी हैं। न्यायकुमुदचन्द्रकर्ता आचार्य प्रभाचन्द्र ने अकलंक को 'अगाध कुनीतिसरित शोषक', 'अशेषकुतर्क विभ्रमतमो निर्मूलनकर्ता', 'स्याद्वादकिरण प्रसारकः', 'अकलंक भानुः', 'समस्तमतवादिकरीन्द्र दर्पमुन्मूलकः', 'स्याद्वादकेसरी', 'पंचानन' आदि अलंकरणों से अलंकृत किया है। यथा—

येनाऽशेषकुतर्क विभ्रमतमो निर्मूलमुन्मूलितम्
स्फारागाध कुनीति सार्थ सरितो निःशेषतः शोषिताः
स्याद्वादऽप्रतिसूर्य भूत किरणैः व्याप्तं जगत् सर्वतः
सश्रीमानकलंकभानुरसमो श्रीयात जिनेन्द्रः प्रभुः॥
इत्थं समस्तमतवादिकरीन्द्र दर्पमुन्मूलयन्मल भानदृढ प्रहारैः।
स्याद्वाद केसर सदाशत तत्रमूर्तिः पचाननो भुविजयत्य कलंक देवः॥¹⁴

लघीयस्त्रय तात्पर्यवृत्ति में अमरचन्द्रसूरि ने अकलंक को 'जिनाधीश', 'सकल तार्किक चक्र चूड़ामणि', 'अकलंक शशांकः' आदि विशेषणों से युक्त बताया है।¹⁵ सिद्धिविनिश्चय टीका में अनन्तवीर्याचार्य ने अन्य विशेषणों के साथ ही उन्हें 'परहितावधान दीक्षित' और 'समदर्शी' कहा है।¹⁶ न्यायविनिश्चय विवरण में वादिराज सूरि ने उन्हें 'तार्किक लोक मस्तक भवि' उपाधि से स्मरण किया है।¹⁷ आप्तमीमांसा पर भाष्य लिखनेवाले आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्री में

अकलंक को 'वृत्तिकार', 'विगलिततिमिरादिकलंकः', 'निरस्त ग्रहोपरागाद्युपद्रवः', 'विगलित ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मात्मकलंकः आदि अलंकरणों से अलंकृत किया है।¹⁸ लघु समन्तभद्र ने भी उन्हें 'सकलतार्किक चूड़ामणि', 'भट्टाकलंकदेव', 'वार्तिककार', 'भाष्यकार' आदि कहकर उनकी स्तुति की है।¹⁹

उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों/कवियों/लेखकों ने उन्हें महान् तार्किक, दार्शनिक, वादविजेता, अद्भुत प्रभावसम्पन्न, जिनतुल्य, युगप्रवर्तक तार्किक लोक मस्तकमणि, तर्क भूवल्लभ, अकलंक श्री, बौद्धबुद्धिवैधव्यः दीक्षागुरु; विद्वदहृदय मणिमाल, नरसुरेन्द्र वन्दनीय, प्रमाणवेत्ता के रूप में स्मरण किया है।

इस विषय में और अधिक विस्तार से अध्ययन किया जाये तो अकलंक के अगाध पाण्डित्य के सन्दर्भ में नये-नये तथ्य उद्घाटित हो सकते हैं। विद्वानों को इस ओर दत्तावधान होना चाहिए।

1. न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना, पृष्ठ 27
2. जैन शिलालेख संग्रह, द्वितीय भाग, लेख 213, पृष्ठ 263
3. वही, द्वितीय भाग, लेख 277, पृष्ठ 416
4. वही, प्रथम भाग, पृष्ठ 104
5. वही, प्रथम भाग, पृष्ठ 105
6. वही, तृतीय भाग, पृष्ठ 350
7. वही, तृतीय भाग, लेख 319, पृष्ठ 46
8. वही, तृतीय भाग, लेख 326, पृष्ठ 66
9. वही, प्रथम भाग, लेख 68, पृष्ठ 24
10. वही, तृतीय भाग, पृष्ठ 206
11. वही, तृतीय भाग, पृष्ठ 195
12. वही, प्रथम भाग, पृष्ठ 211
13. वही, प्रथम भाग, पृष्ठ 338
14. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ 521 तथा 604
15. लघीयस्त्रय तात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ 18, 69, 73, 103 आदि
16. सिद्धिविनिश्चय टीका, पृष्ठ 260
17. न्यायविनिश्चय विवरण, पृष्ठ 369
18. अष्टसहस्री
19. अष्टसहस्री, टिप्पण, पृष्ठ 1, 2, 80 आदि

रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
श्री कुन्दकुन्द जैन पी.जी. कालेज
खतौली - 251201 (उ.प्र.)

ध्यान

आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ।

ऋतमर्दनमात्तिर्वा तत्र भवमात्तम् ॥ 1 ॥ ऋतं दुःखम् अथवा अर्दनमार्तिर्वा, तत्र भवमात्तम् ।

रुद्रःक्रूरस्तत्कर्म रौद्रम् ॥ 2 ॥ रोदयतीति रुद्रः क्रूर इत्यर्थः, तस्येदं कर्म तत्र भवं वा रौद्रमित्युच्यते ।

धर्मादनपेतं धर्म्यम् ॥ 3 ॥ धर्मो वर्णितः ततोऽनपेतं ध्यानं धर्म्यमित्याख्यायते ।

शुचिगुणयोगाच्छुक्लम् ॥ 4 ॥ यथा मलद्रव्यापायात् शुचिगुणयोगाच्छुक्ल वस्त्रं तथा तद्गुणसाधर्म्यादात्म-परिणामस्वरूपमपि शुक्लमिति निरुच्यते ।

तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9.28

ध्यान चार प्रकार का है - आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ।

ऋत-दुःख अथवा अर्दन-आर्ति इनसे होनेवाला ध्यान आर्तध्यान है । 1 ।

रुलानेवाले को रुद्र-क्रूर कहते हैं, रुद्र का कर्म या रुद्र में होनेवाला ध्यान रौद्रध्यान है । 2 ।

धर्मयुक्त ध्यान धर्म्यध्यान है । 3 ।

जैसे मैल हट जाने से वस्त्र शुचि होकर शुक्ल कहलाता है उसी तरह निर्मलगुणरूप आत्मपरिणति भी शुक्ल है । 4 ।

(इनमें आदि के दो ध्यान अपुण्यास्रव के कारण होने से अप्रशस्त हैं और शेष दो कर्म-निर्दहन में समर्थ होने से प्रशस्त हैं ।

अनु. - प्रो. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

जैन-न्याय के उन्नायक : भट्ट अकलंकदेव

— डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल



प्रत्येक व्यक्तित्व अपने समय की देन होता है जिसमें उसके आंतरिक गुण आवश्यकता के अनुरूप पल्लवित और विकसित होते हैं। जैन-न्याय के सुप्रसिद्ध पोषक भट्ट अकलंकदेव जैनागम के ऐसे सशक्त हस्ताक्षर हैं जिनको विस्मृतकर जैन-न्याय शास्त्र के विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती। तर्क व युक्ति द्वारा वस्तु-स्वरूप का निर्णय करने हेतु न्याय शास्त्र का उद्भव हुआ। जबकि अश्वघोष, नागार्जुन, कणाद, जैमिनी आदि धर्मोपदेष्टा एकान्त से पदार्थों की सिद्धि कर रहे थे, जैनधर्म के दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र ने ईसा की दूसरी शताब्दी में सर्वज्ञता के पोषण हेतु देवागमस्तोत्र में सम्यग्ज्ञान को प्रमाण मानकर वस्तु के अनेकान्तिक स्वरूप को प्रमाण और नय से निश्चित करते हुए जैन-न्याय शास्त्र की स्थापना की। पश्चात् सिद्धसेन दिवाकर ने 'न्यायावतार' आद्य जैन-न्यायग्रंथ रचा।

विक्रम की 7वीं शताब्दी में दक्षिण भारत में बौद्ध धर्मावलम्बियों ने वाद-विवाद में अन्य मतों के आचार्यों को पराजित कर अपना वर्चस्व स्थापित किया था। इस विजय ने बौद्धों को धर्मान्ध बना दिया और अन्य धर्मावलम्बियों को अनेक पीड़ा भोगनी पड़ी। ऐसे संक्रमण काल में भट्ट अकलंकदेव का उद्भव हुआ। अकलंकदेव ने देवागम स्तोत्र पर अष्टशति एवं तत्त्वार्थ-सूत्र पर तत्त्वार्थवार्तिक भाष्य लिखे, लघुयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, प्रमाण संग्रह आदि मौलिक ग्रंथ लिखकर, जैन-न्याय का भव्य प्रासाद निर्मित किया और बौद्धादि मान्यताओं का निरसन किया।

बौद्ध दर्शन में जो स्थान धर्मकीर्ति को प्राप्त है वही स्थान जैन दर्शन में अकलंकदेव का है। अकलंकदेव जैनधर्म के प्रखर तार्किक एवं दार्शनिक आचार्य थे। उनके द्वारा सृजित जैन-न्याय को अकलंक न्याय भी कहा जाता है। अकलंकदेव की प्रमाण-व्यवस्था को दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों ने बिना परिवर्तन के यथावत् स्वीकार किया है।

महाकवि धनञ्जय ने अनेकार्थ नाममाला कोश में अकलंकदेव की प्रमाण-व्यवस्था का स्मरण बहुमानपूर्वक निम्न प्रकार किया है—

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

अर्थ—अकलंक का प्रमाण, पूज्यपाद का व्याकरण और धनञ्जय कवि का काव्य, ये तीनों अपश्चिम रत्न हैं।

अकलंकदेव के कर्तृत्व अर्थात् तत्त्वार्थवार्तिक एवं सिद्ध विनिश्चय का उल्लेख आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला और जयधवला में तत्त्वार्थ भाष्य के नाम से किया है। उनके शिष्य जिनसेन ने अपने महापुराण में 'भट्टाकलंक श्रीपाल पात्र केसरिणां गुणा' लिखकर उनका नामोल्लेख किया है।¹

न्यायविनिश्चय के टीकाकार वादिराज (शक सम्वत् 948) ने अकलंकदेव को 'तार्किक लोक मस्तक मणि' की उपाधि से विभूषित किया है। उन्होंने अपने पार्श्वनाथचरित्र में अकलंकदेव की जय-जयकार करते हुए शून्यवादी बौद्धों के विजेता के रूप में निरूपित किया है।

हनुमच्चरित में भी अकलंकदेव की बौद्धों के विजेता के रूप में जयकार की है।

श्रवणवेलगोला के अभिलेख क्रमांक 47 में लिखा है—

षटर्तकेष्वकलङ्कदेव विवुधः साक्षादयं भूतले

अर्थ— अकलंकदेव षट्दर्शन और तर्कशास्त्र में इस पृथ्वी पर साक्षात् विवुध (बृहस्पति देव) थे।³

अभिलेख क्रमांक 108 में पूज्यपाद के पश्चात् अकलंकदेव का स्मरण कर उन्हें मिथ्यात्व अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य-समान बताया गया है।

विन्ध्यगिरि के शिलालेख क्रमांक 105 के पद 21 में अकलंकदेव को स्मरण करते हुए लिखा है - 'बौद्ध आदि दार्शनिकों के मिथ्या उपदेशरूपी पंक से सकलंक हुए जगत को मानो अपने नाम को सार्थक बनाने ही के लिए भट्टाकलंक ने अकलंक कर दिया।'¹²

जीवन परिचय

तत्त्वार्थवार्तिक के प्रथम अध्याय के अंत में निम्न प्रशस्ति उपलब्ध है—

जीयाच्चिरमकलङ्क ब्रह्मा लघु हव्व नृपति वरतनयः।
अनवरत निखिल विद्वज्जन नुत विद्यः प्रशस्त जनहृद्यः॥

अर्थ— लघुहव्व नृपति के वर अर्थात् ज्येष्ठ या श्रेष्ठ पुत्र निखिल विद्वज्जनों के द्वारा जिनकी विद्या का लोहा माना जाता है, जो सज्जन पुरुषों के हृदयों को आह्लादित करनेवाले हैं, वे अकलंकब्रह्मा जयशील हैं ।¹ इसके अनुसार अकलंकदेव लघुहव्व नृपति के पुत्र हैं । लघुहव्व कौन थे और दक्षिण में किस प्रदेश के राजा थे, इस पद्य से कुछ भी ज्ञात नहीं होता ।

अकलंकदेव के जीवन के सम्बन्ध में प्रभाचन्द्र एवं ब्रह्मचारी नेमिदत्त के 'कथा कोश' तथा 'राजावलिकथे' ग्रंथों में अकलंक-कथाएँ मिलती हैं जिनसे उनके जीवन पर प्रकाश पड़ता है । इन कथाकोशों के अनुसार अकलंकदेव मान्यखेट के राजा शुभतुंग के मंत्री पुरुषोत्तम के पुत्र थे । उनकी माता का नाम पद्मावती था । उनके दो पुत्र थे— अकलंक और निष्कलंक । एक बार अष्टाह्निका पर्व पर उनके माता-पिता ने अपने पुत्रों सहित रविगुप्त मुनि के समक्ष आठ दिन का ब्रह्मचर्य व्रत लिया । इस व्रत को अकलंक और निष्कलंक ने भावपूर्वक ग्रहणकर आजीवन व्रत मान लिया और युवावस्था में विवाह करने से इन्कार कर दिया । वे महाबोधि विद्यालय में तत् समय प्रचलित बौद्धधर्म का अध्ययन करने लगे । यह घटना दोनों भाइयों की विषय-विरक्ति आत्माभिरुचि एवं चारित्रिक दृढ़ता का सूचक है । यद्यपि दोनों भाई जैनधर्म को समर्पित थे, फिर भी निष्कलंक की अपेक्षा अकलंक बुद्धि में प्रवर थे ।

जैनत्व का रहस्य खुला और निष्कलंक का बलिदान

एक दिन बौद्ध गुरु सप्तभंगी-सिद्धान्त समझा रहे थे, परन्तु पाठ अशुद्ध होने के कारण विषय स्पष्ट नहीं हो रहा था । गुरु के जाने के पश्चात् अकलंक ने पाठ शुद्ध कर दिया । इस पर गुरु को यह संदेह हो गया कि ये दोनों भाई जैन हैं । अन्य प्रमाणों से भी इसकी पुष्टि हुई । तदनुसार धर्मविद्वेष के कारण दोनों भाइयों को बंदीगृह में कैद कर दिया । एक रात्रि में दोनों भाई बंदीगृह से निकल कर भागने में सफल हो गये । प्रातःकाल बौद्ध गुरु के आदेश पर उन्हें पकड़ने हेतु चारों ओर घुड़सवारों को दौड़ा दिया गया । घुड़सवारों को पीछे आते देख निष्कलंक ने अकलंक को तालाब में कूदकर अपनी रक्षा करने को कहा । अकलंक ने भाई की आज्ञानुसार तालाब में कूदकर अपने को कमल-पत्रों में छिपा लिया । तालाब में एक धोबी कपड़े धो रहा था । घुड़सवारों को निकट आता देख वह भी प्राण रक्षा हेतु निष्कलंक के साथ भागा । घुड़सवारों ने दोनों को भाई समझ कर उनकी हत्या कर दी पश्चात् अकलंक तालाब से बाहर भ्रमण करने लगे ।

उक्त घटना की दो निष्पत्तियाँ हैं । पहली जैनधर्म के प्रचारार्थ अकलंक को सुरक्षित कर निष्कलंक द्वारा प्राणोत्सर्ग । यह घटना अपने आप में बे-मिसाल और प्रेरणाप्रद है जो वीतरागधर्म के रक्षार्थ/प्रचारार्थ मृत्यु के वरण तक की प्रेरणा देती है । दूसरी, विद्वेष चाहे धार्मिक हो या अन्य कोई और, सदैव अंधा, क्रूर और बर्बर होता है । इसी धार्मिक विद्वेष की आग में निष्कलंक के साथ धोबी भी अपने प्राण गँवा बैठा । यह दोनों निष्पत्तियाँ आज भी उतनी ही सामयिक और यथार्थ हैं, जितनी तेरह सौ वर्ष पूर्व थी । अकलंकदेव ने जीवनपर्यंत अनेकान्तरूप जैनधर्म के प्रचार एवं विद्वेष के शमन की साधना की ।

‘राजावलिकथे’ में अकलंक को काञ्ची के जिनदास नामक ब्राह्मण का पुत्र कहा है। इसमें भी अकलंक द्वारा बौद्ध धर्माध्ययन एवं प्राणरक्षा की उक्त घटना का वर्णन किया है। इसके अनुसार अकलंक ने जैन दीक्षा लेकर सुधापुर के देशीयगण का आचार्य पद सुशोभित किया।

शास्त्रार्थ विजय और तारादेवी का भंडाफोड़

अकलंकदेव जैन, बौद्ध और अन्य दर्शनों के निष्णात विद्वान् थे। उन्होंने विभिन्न स्थानों पर बौद्ध गुरुओं को पराजित कर जैनधर्म के अनेकान्तवाद, अहिंसा आदि सिद्धान्तों की ध्वजा फहराई और अपनी उदारता-सदाशयता का परिचय दिया। इसकी पुष्टि निम्न घटना से होती है।

कलिंग देश के रतनपुर का राजा हिमशीतल बौद्ध धर्मानुयायी था, किन्तु उसकी पत्नी मदन-सुन्दरी जैन थी। वह धर्म प्रभावना हेतु जैन रथ निकलवाना चाहती थी। राजा के बौद्ध गुरु इस पक्ष में नहीं थे। उन्होंने शर्त रखी कि बौद्ध गुरुओं को शास्त्रार्थ में पराजित करने पर ही जैन रथ निकालने की अनुमति दी जाये। राजा के समक्ष धर्म संकट उपस्थित हो गया। अकलंक ने इस चुनौती को सहर्ष स्वीकार किया। तदनुसार राजा के दरबार में जैन और बौद्ध गुरुओं के मध्य छः माह तक परदे के पीछे शास्त्रार्थ होता रहा। अकलंकदेव विस्मय में थे, कि यह कैसे हो रहा है। उन्हें ज्ञात हुआ कि परदे के पीछे घड़े में बैठी तारादेवी (देवीयशक्ति) बौद्ध गुरुओं के स्थान पर शास्त्रार्थ कर रही है। उन्होंने साहसपूर्वक परदे को खोल कर घड़े को फोड़कर तारादेवी का भंडाफोड़ कर दिया। तारादेवी भाग खड़ी हुई और बौद्ध गुरु पराजित हो गये। रानी बहुत प्रसन्न हुई और उसने उत्साहपूर्वक जैन रथ निकालकर धर्मप्रभावना की। प्रजाजन हर्षित हुए।

‘राजावलिकथे’ में यह घटना कुछ परिवर्तन सहित वर्णित है। इसके अनुसार बौद्ध गुरुओं ने शास्त्रार्थ में पराजित होनेवाले पक्ष को कोल्हू में पिरवा देने की कूर शर्त रखी। शास्त्रार्थ सत्तरह दिन चला। कूष्माण्डिनी देवी ने अकलंकदेव को स्वप्न में प्रश्नों को प्रकारान्त रस में उपस्थित करने पर जीतने का संदेश दिया। अकलंक ने वैसा ही किया और शास्त्रार्थ में विजयी हुए। पश्चात् अकलंक ने राजा से अनुरोध कर बौद्ध गुरुओं को कोल्हू में पिराये जाने का दण्ड क्षमा करवाया। बौद्ध गुरु कलिंग से सीलोन चले गये। इस प्रकार अकलंक ने अहिंसा एवं क्षमाशीलता का सभी को भाव-बोध कराया। पाण्डव पुराण में इस घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कलिकाल में वे कलंक रहित अकलंक श्रुत को विभूषित करें जिन्होंने घट में बैठी मायारूपीधारणी देवी को पैर से टुकराया। श्रवणवेलगोल की मल्लिषेण प्रशस्ति से भी उक्त घटना की पुष्टि होती है। इस प्रशस्ति का लेखन काल शक सम्वत् 1050 है।

अकलंकदेव की विद्वत्ता, साहस, आत्माभिरुचि युक्त तार्किकता तथा जैन-न्याय के प्रति योगदान को दृष्टिगत कर आचार्य विद्यानंद ने उन्हें ‘सकलतार्किक चक्रचूड़ामणि’ से विभूषित कर उनके प्रति बहुमान प्रकट किया है।

समय-निर्धारण

अकलंकदेव के काल के सम्बन्ध में कई धारणाएँ प्रचलित हैं। अकलंक चरित्र में निम्न श्लोक आया है जिसमें उनके द्वारा विक्रम सम्वत् 700 अर्थात् ई. सन् 643 में शास्त्रार्थ करने का उल्लेख है।

विक्रमार्क शकाब्दीय शत सप्त प्रभाजुषि।
काले अकलंक यति नो बौद्धैर्वादो महान भूत॥

इस श्लोक में विक्रमार्क पद का अर्थ कुछ विद्वानों ने शक सम्वत् किया है। दोनों में 135 वर्ष का अंतर है।

स्व. डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने दोनों मतों के विद्वानों की धारणाओं को दृष्टिगत कर अकलंक का समय ई. सन् 8वीं शती सिद्ध किया है। डॉ. श्री नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य के मतानुसार— “आचार्य कैलाशचन्द्र शास्त्री ने गहन अध्ययन कर अकलंकदेव का समय ई. सन् 620-680 निश्चित किया है और महेन्द्रकुमारजी के अनुसार यह समय ई. सन् 720-780 आता है। इस तरह दोनों समयों के मध्य 100 वर्ष का अंतर है।”¹⁶

यह उल्लेखनीय है कि अकलंकदेव धनंजय के पूर्ववर्ती हैं और धनंजय वीरसेन के पूर्ववर्ती हैं किन्तु डॉ. महेन्द्रकुमारजी इन तीनों को समकालीन मानते हैं। समय-भेद का मूल कारण यही है। फिर भी, सुविचारित दृष्टि से अकलंकदेव का काल ई. सन् 620-680 अधिक प्रमाणिक प्रतीत होता है। इसकी पुष्टि उक्त श्लोक से होती है।

कर्तृत्व

अकलंकदेव दर्शन शास्त्र के गूढ़ अध्येता थे। उन्होंने षट्दर्शन का गम्भीर अध्ययन-चिंतन कर तर्क और युक्ति से जैन दर्शन की श्रेष्ठता, समीचीनता और आत्मकल्याण हेतु उसकी उपादेयता सशक्त रूप से सिद्ध की। यद्यपि वे मूलतः तार्किक-दार्शनिक थे फिर भी उन्हें जैन सिद्धान्त न्याय और आगम पर पूर्ण अधिकार था। जैन अध्यात्म पक्ष उनके चिंतन का केन्द्रबिन्दु था। उनकी रचनाएँ गूढ़-गम्भीर हैं। उन्हें संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में रचना की। गहन विषयों को सहज-सरल करने हेतु उन्होंने व्यंगात्मक शैली भी अपनायी। उनकी भाषा छन्द, अलंकार, व्याकरण, शब्द सारमध्य आदि अद्भुत थी। वे वार्तिककार के साथ ही सफल व्याख्या-भाष्यकार भी थे।

अकलंकदेव की रचनाएँ दो भागों में विभक्त हैं— प्रथम भाग में टीका ग्रन्थ हैं और द्वितीय भाग में जैन-न्याय विषयक स्वतंत्र रचनाएँ हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

टीका ग्रंथ

1. तत्त्वार्थवार्तिक भाष्य (तत्त्वार्थराजवार्तिक)
2. अष्टशती- देवागम विवृति

स्वतंत्र ग्रंथ

3. स्वोपज्ञवृत्ति सहित लघीयस्त्रय
4. न्यायविनिश्चय सवृत्ति
5. सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति
6. प्रमाण संग्रह सवृत्ति

अन्य ग्रंथ

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष के अनुसार आपकी निम्न चार रचनाएँ और हैं—

7. स्वरूप सम्बोधन
8. वृहत्त्रयम्
9. न्याय चूलिका
10. अकलंक स्तोत्र (जिन स्तोत्र)। श्री पं. सदासुखदासजी ने इसकी भाषाटीका लिखी है।

1. तत्त्वार्थवार्तिक भाष्य

अकलंकदेव ने दर्शन, तर्क, न्याय, आगम और अध्यात्म के आलोक में उमास्वाति कृत 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'तत्त्वार्थवार्तिक' नाम की बहुआयामी टीका लिखी। इसे 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' या 'राजवार्तिक' के नाम से भी पुकारा जाता है। इस टीका का आधार आचार्य पूज्यपाद कृत तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका है। तत्त्वार्थवार्तिक टीका गद्यात्मक है जिसमें पहले सूत्रात्मक वार्तिक लिखे गये और बाद में उनकी व्याख्या-भाष्य लिखा गया। इसमें परम्परागत व्याख्या के साथ ही नवीनता का भी समावेश है।

'तत्त्वार्थसूत्र' जैन दर्शन के सैद्धान्तिक एवं आगम पक्ष को प्रस्तुत करने वाला महत्वपूर्ण सूत्रात्मक ग्रंथ है जिसे कुछ अंतरसहित दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों स्वीकारते हैं। इसमें दस अध्याय हैं। अकलंकदेव जैन सिद्धान्त, अध्यात्म एवं आगम के मर्मज्ञ विद्वान होने के साथ ही गूढ़ दार्शनिक और तार्किक थे। स्वभावतः तत्त्वार्थवार्तिक में सर्वत्र अकलंकदेव की दार्शनिकता एवं विशदज्ञान का दर्शन होता है। तत्त्वार्थसूत्र का प्रथम और पंचम अध्याय क्रमशः ज्ञान और द्रव्यों से सम्बन्धित है जो दर्शन के प्रधान अंग हैं। दर्शनशास्त्र के पाठकों के लिए ये अध्याय ज्ञानवर्धक और रोचक सिद्ध होंगे।

तत्त्वार्थवार्तिक की दूसरी विशेषता जैन सिद्धान्त के प्राण अनेकान्तवाद की व्यापक रूप से स्थापना करना है। अकलंकदेव ने न केवल दार्शनिक मन्तव्यों अपितु आगमिक रहस्यों में भी यथास्थान अनेकान्तवाद की चर्चाकर उसे प्रतिष्ठित किया। प्रथम अध्याय के छठे सूत्र 'प्रमाणनयैरधिगमः' में सप्तभंगी तथा चतुर्थ अध्याय के अंत में अनेकान्तवाद के स्थापनपूर्वक नय सप्तभंगी और प्रमाण सप्तभंगी का सुन्दर विवेचन किया है।

जहाँ तक आगमिक विषयों का सम्बन्ध है, अकलंकदेव षट्खण्डागम के विशेषज्ञ थे, जिसका अनुगमन प्रस्तुत वार्तिक में किया गया। द्वितीय अध्याय में पाँच भाव और उनके भेद, जीवों का लक्षण और भेद एवं उससे सम्बन्धित वर्णन है। तीसरे अध्याय में अधोलोक और

मध्यलोक तथा चौथे अध्याय में ऊर्ध्वलोक (स्वर्गलोक) का विस्तृत वर्णन है। पाँचवें अध्याय में छह द्रव्यों का निरूपण है। छठा अध्याय विभिन्न कार्यों से उत्पन्न कर्म-आस्रव से सम्बन्धित है। सातवें अध्याय में जैन गृहस्थाचार की व्याख्या है। आठवें अध्याय में कर्मबंधरूप कर्म सिद्धान्त का वर्णन है। नौवाँ अध्याय कर्मों के संवर, मुनियों का आचार एवं ध्यान एवं कर्म-निर्जरा से सम्बन्धित है तथा दसवें अध्याय में मोक्ष का सुन्दर वर्णन है। इन सभी अध्यायों की विशद टीका अकलंकदेव ने की है और उसमें जैन सिद्धांतों के विवेचन के साथ ही अन्य दर्शनों की समीक्षा की है। इसके अतिरिक्त स्फोटवाद, क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा वैनिकवादियों की समीक्षा की है।

तत्त्वार्थवार्तिक का अध्यात्म पक्ष

धर्म मूलतः अध्यात्म से सम्बन्धित है जिसका लक्ष्य आत्मा को परमात्मा बनाना है। रागादि विकल्पों से रहित निज-शुद्धात्मा में अनुष्ठान की प्रवृत्ति ही अध्यात्म है। अध्यात्म में अभेद रत्नत्रय के प्रतिपादक अर्थ और पदों के अनुकूल व्याख्या की जाती है। यद्यपि तत्त्वार्थवार्तिक जैन आगम ग्रंथ है फिर भी अकलंकदेव ने आचार्य कुन्दकुन्ददेव के द्रव्यानुयोग का अनुसरण करते हुए अध्याय एक के सूत्र संख्या एक, दो एवं अन्य अध्यायों में उपयुक्त स्थलों पर अध्यात्म पक्ष को प्रस्तुत कर यह सिद्ध किया कि वीतरागता की प्राप्ति आत्मभूत, आत्माश्रित एवं त्रिरत्न के सुमेल से ही सम्भव है। इस सम्बन्ध में निम्न बिन्दु मननीय हैं —

‘सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः’ तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय का पहला सूत्र है जो मोक्ष-मार्ग दर्शाता है। अकलंकदेव के अनुसार ‘इसमें ज्ञान और दर्शन शब्द करण साधन हैं अर्थात् आत्मा की उस शक्ति का नाम ज्ञान है जिससे पदार्थ जाने जाते हैं और उस शक्ति का नाम दर्शन है जिससे तत्त्वश्रद्धान होता है। चारित्र शब्द कर्मसाधन है अर्थात् जो आचरण किया जाता है, वह चारित्र है’ (1-1-4)।

अकलंकदेव ने आत्मा और ज्ञान के बीच कर्ता और करण के भेद-अभेद की और अन्त में ज्ञान से आत्मा को भिन्न-अभिन्न सिद्ध कर घोषित किया कि अखण्ड दृष्टि से आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं है (1-1-5/6)।

अथवा ‘जानाति इति ज्ञानम्’ अर्थात् जो जाने सो ज्ञान, ‘पश्यतीति दर्शनम्’ अर्थात् जो श्रद्धा करे वह दर्शन, ‘चरतीति चारित्रम्’ अर्थात् जो आचरण करे वह चारित्र है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानादि पर्यायों से परिणत आत्मा ही ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप होता है। इसलिये कर्ता और करण की भिन्नता का सिद्धान्त मानकर आत्मा और ज्ञान में भेद करना उचित नहीं है (1.1.22/23) अथवा ज्ञानादि शब्दों को भाव-साधन कहना चाहिए। ‘ज्ञातिज्ञानम्’ अर्थात् जानने रूप क्रिया, ‘दृष्टि दर्शनम्’ अर्थात् तत्त्वश्रद्धान, ‘चरणं चारित्रम्’ अर्थात् आचरण। उदासीनरूप से स्थित ज्ञानादि क्रियाएँ ही मोक्षमार्ग हैं। क्रिया में व्यापृत ज्ञानादि में तो यथासंभव कर्तृसाधन, करणसाधन आदि व्यवहार होंगे (1-1-24)।

आत्मा में सम्यग्दर्शन और ज्ञान एक साथ उत्पन्न होने के उपरांत भी दोनों की पर्यायें भिन्न-भिन्न हैं। जहाँ ज्ञान और चारित्र का सम्बन्ध है, इसमें सूक्ष्म काल-भेद है, जिसका आभास नहीं हो पाता। ज्ञान और चारित्र में अर्थ-भेद भी है - ज्ञान जानने को कहते हैं और चारित्र कर्मबंध की कारण क्रियाओं की निवृत्ति को। अतः ज्ञान और चारित्र के अर्थ भी भिन्न-भिन्न हैं। **द्रव्यार्थिक दृष्टि से ज्ञानादिक में एकत्व है तथा पर्यायार्थिक दृष्टि से अनेकत्व (1-1-61/64)।**

ज्ञानपूर्वक चारित्र ही उपादेय है। इसका प्रतिपादन करते हुए अकलंकदेव ने कहा कि सूत्र में दर्शन और चारित्र के बीच में ज्ञान का ग्रहण किया गया है, **क्योंकि चारित्र ज्ञानपूर्वक ही होता है (1-1-30)।**

सांख्य, बौद्ध आदि विविध धर्म-दर्शनों की मीमांसा कर अकलंकदेव ने सिद्ध किया कि मोक्ष अर्थात् समस्त कर्मों का आत्यान्तिक उच्छेद रत्नत्रय के एकत्व से ही सम्भव है। मात्र ज्ञान या वैराग्य या क्रिया जैसे पृथक-पृथक घटकों द्वारा नहीं। आत्मार्थी को आत्मोपलब्धि और मोक्ष की प्राप्ति के लिए अध्यात्म के उक्त रहस्य को समझना आवश्यक है।

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' प्रथम अध्याय का दूसरा महत्त्वपूर्ण सूत्र है जो सम्यग्दर्शन का बोध कराता है। तत्त्वार्थश्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। 'तत्त्व' शब्द भावसामान्य का वाचक है। तत्त्व का अर्थ है— 'जो पदार्थ जिस रूप से है, उसका उसी रूप होना।' अर्थ का भाव है— 'जो जाना जाये'। तत्त्वार्थ का अर्थ है— 'जो पदार्थ जिसरूप से स्थित है, उसका उसीरूप (भवन) होना।' तात्पर्य यह है कि जिसके होने पर तत्त्वार्थ अर्थात् वस्तु का यथार्थ ग्रहण हो उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं (1-2-5/16)। इस प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा का भावबोध सहित श्रद्धान/रुचि सम्यग्दर्शन है। श्रद्धान शब्द करण, भाव और कर्म तीनों साधनों से निष्पन्न होता है। **श्रद्धान आत्मा की पर्याय है और आत्मा ही श्रद्धानरूप से परिणमित होता है (1-2-7/6)।**

सम्यग्दर्शन और सम्यक्त्व-कर्म-प्रकृति में भेद दर्शाते हुए अकलंकदेव कहते हैं कि मोक्ष के कारणों का प्रकरण होने के कारण यहाँ आत्मा का उपादानभूत परिणाम ही विवक्षित है। सम्यग्दर्शन सीधे आत्मस्वरूप ही है जबकि सम्यक्त्व-प्रकृति पुद्गल की पर्याय है। आत्मा ही अपनी शक्ति से दर्शन पर्याय धारण करता है अतः वही मोक्ष का कारण है। अतः **आत्मपरिणामरूप सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का साक्षात् कारण है (1-2-9/16)।**

सम्यग्दर्शन इच्छापूर्वक नहीं होता? इसका स्पष्टीकरण करते हुए अकलंकदेव कहते हैं कि इच्छा लोभ की पर्याय है और केवली निर्मोही होते हैं। अतः 'जिसके होने पर आत्मा यथाभूत अर्थ का ग्रहण करता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, यही लक्षण उचित है (1-2-26/28)।

यह सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है 1. सरागसम्यग्दर्शन और 2. वीतराग सम्यग्दर्शन। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यस्वरूप सराग सम्यग्दर्शन है। रागादि की शान्ति प्रशम है। संसार से डरना संवेग है। प्राणीमात्र में मैत्रीभाव अनुकम्पा और जीवादि पदार्थों के यथार्थस्वरूप में 'अस्ति' बुद्धि होना आस्तिक्य है।

तथा मोहनीयकर्म की सात कर्म प्रकृतियों का अत्यंत अपगम अर्थात् उनका आश्रय न होने पर आत्मविशुद्धिरूप वीतराग सम्यक्त्व है। सराग सम्यक्त्व साधन ही होता है और वीतराग सम्यग्दर्शन साधन और साध्य भी (1-2-29/31)।

अजीवादि तत्त्वों को निर्देश स्वामित्व आदि द्वारा जानने की योजना सूत्र सात में दी गयी है। इस सूत्र की टीका में अकलंकदेव कहते हैं कि सम्यग्दर्शन का स्वामी आत्मा है और सम्यग्दर्शन पर्याय है। ज्ञान का स्वामी आत्मा है और ज्ञान पर्याय है और चारित्र का स्वामी आत्मा है और चारित्र पर्याय है (1-7-14)। इस प्रकार त्रिरत्नों का स्वामी और पर्याय, आत्मा ही है कोई भी आत्मा से भिन्न नहीं।

संवर मिथ्यादर्शन आदि आस्रव के प्रत्ययों का निरोध होने से उनसे आनेवाले कर्मों का रुक जाना संवर है जो द्रव्यसंवर एवं भावसंवर रूप है। आत्मा को द्रव्यादि निमित्तों से पर्यायान्तर भवान्तर की प्राप्ति होना संसार है। इस संसार में कारणभूत क्रिया और परिणामों की निवृत्ति भावसंवर है। और भाव बंध के निरोध से तत्पूर्वक आनेवाले कर्म पुद्गलों का रुक जाना द्रव्यसंवर है (9-1-6/9)।

करण (भाव) - सम्यक्त्व और चारित्र की प्राप्ति का आधारभूत कारण विशुद्ध आत्म-परिणाम है जिनसे कर्मों का उपशम-क्षय होता है। सम्यक्त्व क्षायोपशमिक भी होता है। श्रेणी-आरोहण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप आत्म-परिणामों से ही होता है। इसकी व्याख्या करते हुए अकलंकदेव कहते हैं कि अपूर्वकरणरूप परिणामों की विशुद्धि से श्रेणी चढ़नेवाला अपूर्वकरण है। इसी प्रकार **अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों की विशुद्धि** से कर्म प्रकृतियों को स्थूलरूप से उपशम या क्षय करनेवाला उपशमक-क्षपक अनिवृत्तिकरण है (9-2-19/20)।

यथाख्यात चारित्र - चारित्र मोह के उपशम या क्षय से आत्मस्वभाव स्थितरूप परम अपेक्षा परिणत यथाख्यात चारित्र होता है (9-19-11/12)।

स्वाध्याय का महत्व - मोक्षमार्ग में स्वाध्याय की आधारभूत भूमिका है। स्वाध्याय अंतरंग तप है। इसकी महत्ता रेखांकित करते हुए अकलंकदेव कहते हैं कि 'प्रज्ञातिशय प्रशस्त-अध्यवसाय प्रवचनस्थिति संशयोच्छेद परवादिओं की शंका का अभाव परमसंवेग तपोवृद्धि और अतिचारशुद्धि आदि के लिए स्वाध्याय करना आवश्यक है' (9-25)।

ध्यान - नवम अध्याय के सूत्र 27 से 44 तक ध्यान की विस्तृत चर्चा की है। अकलंकदेव ने अनेकान्तिक दृष्टि से ध्यान की भाव-साधन, कर्तृ-साधन और करण-रूप में मीमांसा करते हुए कहा कि 'एकाग्रचिन्ता निरोधो' इसमें अग्र शब्द प्राधान्यवाची है अर्थात् **प्रधान आत्मा को लक्ष्य बनाकर चिन्ता का निरोध करना**। अथवा 'अङ्गतीति अग्रम आत्मा' इस व्युत्पत्ति में द्रव्यरूप से एक आत्मा को लक्ष्य बनाना ही स्वीकृत है। ध्यान स्ववृत्ति होता है, इसमें बाह्य चिन्ताओं से निवृत्ति होती है (9-27-18/22)।

ध्यान के भेद - ऋत - दुःख अथवा अर्दन - आर्ति, इनसे होनेवाला ध्यान आर्तध्यान है। रूलाने वाले को रूद्र-क्रूर कहते हैं, रूद्र का कर्म या रूद्र में होनेवाला ध्यान रौद्रध्यान है। धर्मयुक्त ध्यान धर्मध्यान है। जैसे मैल छूट जाने से वस्त्र शुचि होकर शुक्ल कहलाता है उसी तरह निर्मलगुणरूप आत्म-परिणति भी शुक्ल है। इसमें आदि के दो ध्यान (आर्त-रौद्र) अपुण्यास्त्र के कारण होने से अप्रशस्त है और शेष दो (धर्म-शुक्ल) कर्मदहन में समर्थ होने से प्रशस्त हैं (9-28-1/4)।

भाव और सिद्धावस्था के भाव - अकलंकदेव ने अध्याय एक के सूत्र पाँच में भाव को परिभाषित किया है। 'भवनं भवतीति वा भावः' अर्थात् होना मात्र या जो होता है, सो भाव है (1-5-0)। इससे स्पष्ट होता है कि कुछ करने या नहीं करने के विकल्पों से परे मात्र होनेरूप ज्ञायकभाव ही जीव का स्वभाव भाव है जो धर्मस्वरूप है। जीव के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये पाँच भाव होते हैं। इनमें प्रथम चार कर्म-सापेक्ष और अंतिम कर्म-निरपेक्ष है। इनके 53 भेद हैं। ये भाव अशुभ, शुभ और शुद्धरूप होते हैं।

दसवें अध्याय के सूत्र एक के अनुसार मोहक्षय होने पर केवलज्ञानादि उत्पन्न होते हैं। मोहादि का क्षय परिणाम विशेष से होता है (10-1-3)। सूत्र चार के अनुसार सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और सिद्धत्व ये चार क्षायिकभाव और जीवत्वरूप पारिणामिक भाव होते हैं। ज्ञान-दर्शन के अविनाभावी अनंतवीर्य आदि होते हैं। अनंतवीर्य से रहित व्यक्ति के अनन्तज्ञान नहीं हो सकता और न ही अनंतसुख ही, क्योंकि सुख तो ज्ञानमय ही है (10-4-3)।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तत्त्वार्थवार्तिक में अकलंकदेव ने जैन सिद्धान्त और आगम का विशद वर्णन करते हुए मुक्ति हेतु अनेकान्तमयी, आत्माश्रित अध्यात्म पक्ष को ही उपादेय स्वीकार किया है। भव्यात्माओं को इसका रहस्य समझना अपेक्षित है।

2. अष्टशती - देवागम विवृत्ति

स्वामी समन्तभद्र ने देवागम स्तोत्र (आप्त मीमांसा) में अनेकान्तवाद की स्थापना करते हुए सर्वज्ञ की सिद्धि की थी। अकलंकदेव ने देवागम स्तोत्र पर 800 श्लोक प्रमाण विवृति (भाष्य) लिखी जो अष्टशती कहलाती है। दार्शनिक क्षेत्र में यह वृत्ति संक्षिप्त, गहन और अर्थ-गाम्भीर्ययुक्त अद्भुत कृति है। विश्व के दर्शन दो भागों में वर्गीकृत हैं— एक अनेकान्तवादी और दूसरा एकान्तवादी। जैनदर्शन अनेकान्तवादी है, शेष एकान्तवादी। देवागम स्तोत्र में अनेकान्तवादी वक्ता को आप्त और एकान्तवादी वक्ता को अनाप्त बताते हुए विभिन्न दर्शनों के द्वैत-अद्वैतवाद, शाश्वत-अशाश्वतवाद, वक्तव्य-अवक्तव्यवाद, अन्यता-अनन्यतावाद, सापेक्ष-अनपेक्षवाद, हेतु-अहेतुवाद, विद्वान-बहिरर्थवाद, दैव-पुरुषार्थवाद, पुण्य-पापवाद, बन्ध-मोक्षकारणवाद आदि की समीक्षा की गयी है। अष्टशती में इन विषयों के अतिरिक्त अन्य नवीन विषयों पर भी प्रकाश डाला है जो मूलग्रंथ में छूट गये हैं। सर्वज्ञ की चर्चा में सर्वज्ञ-सामान्य में विवादीचार्वाक और मीमांसकों के साथ, सर्वज्ञ-विशेष में विवादी बौद्ध आदि की आलोचना कर दिखाना आदि बौद्ध नैयायिकों के पक्ष का खण्डन किया है। सप्तभंगी में समन्तभद्र ने केवल चार भंगों का ही उपयोग

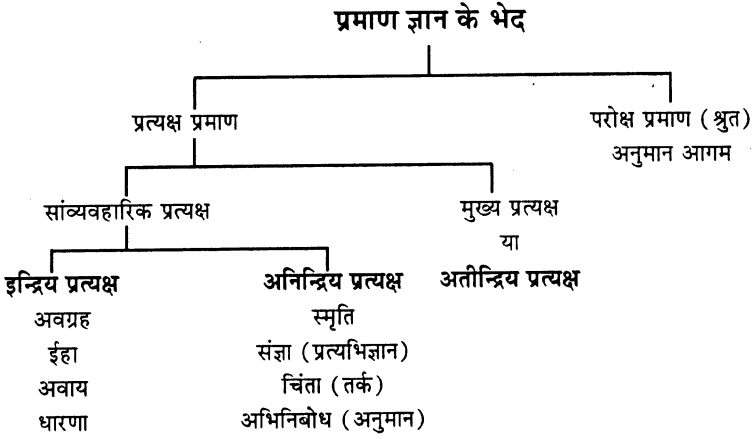
किया था किन्तु अकलंकदेव ने वैदिक दर्शनों के सामान्यवाद को सद्वक्तव्य और बौद्धों के अन्यापोहवाद को असद्वक्तव्य बताकर शेष भंगों का भी उपयोग किया। ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व-वाद की आलोचना की है। प्रमाणों की चर्चा करके सर्वज्ञ के ज्ञान दर्शन की युगपत प्रवृत्ति सिद्ध की है। अष्टशती में धर्मकीर्ति (बौद्ध) के प्रमाणवार्तिक एवं प्रमाणविनिश्चय ग्रंथों तथा तत्त्वार्थ सूत्र के कुछ सूत्र उद्धृत किये हैं। आचार्य विद्यानन्द ने अष्टशती के भावों को समाविष्ट कर अष्टसहस्री टीका लिखी जिसमें अकलंकदेव के गहन-गम्भीर भावों को प्रकट किया है।

3. स्वोपज्ञवृत्ति सहित लघीयस्त्रय

नाम के अनुरूप लघीयस्त्रय तीन छोटे-छोटे प्रकरणों अर्थात् प्रमाण प्रवेश, नय प्रवेश और प्रवचन प्रवेश का 78 कारिकाओं का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित संग्रह है। प्रमाण प्रवेश में चार परिच्छेद हैं— प्रत्यक्ष, विषय, परोक्ष और आगम परिच्छेद। इनमें क्रमशः 6, 3, 12 और 8 (कुल 29) कारिकाएँ हैं। इन परिच्छेदों में प्रमाण का स्वरूप, भेद-प्रभेद, विषय और प्रमाण के फल का वर्णन होने से उन्हें प्रमाण प्रवेश कहा गया। नय प्रवेश में 21 कारिकाएँ हैं जिनमें नय, नय के भेद आदि का वर्णन होने से नय प्रवेश कहा। छठे और सातवें परिच्छेद में क्रमशः 22 और 6 कारिकाएँ हैं जिनमें प्रमाण, नय और निक्षेप के वर्णन करने की प्रतिज्ञा करके भी श्रुत और उसके भेद-प्रभेदों का मुख्य वर्णन होने के कारण उन्हें प्रवचन प्रवेश का नाम दिया। आचार्य प्रभाचन्द्र ने इन सात परिच्छेदों पर 'न्यायकुमुदचन्द्र' नामक व्याख्या लिखी है। अकलंकदेव ने भी कारिकाओं के साथ उन पर संक्षिप्त विवृत्ति लिखी।

जैन दर्शन अनेकान्तवादी है। उसके अनुसार प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी कहे जानेवाले, जैसे - नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व आदि धर्मों का समूह पाया जाता है। यह प्रमाण का विषय है। जैन सिद्धान्त में ज्ञान को ही प्रमाण माना है। प्रमाण के दो रूप हैं— स्वार्थ और परार्थ। ज्ञान के द्वारा वस्तु की साक्षात् ज्ञप्ति (जानकारी) ज्ञाता को होती है। ज्ञाता के ज्ञान का उपयोग कोई अन्य करे, इसके लिए शब्दों का सहारा लेना पड़ता है। किन्तु शब्द-सामर्थ्य सीमित है। ज्ञान वस्तुओं को या उनके अनेक धर्मों को एकसाथ जान सकता है, किन्तु एक समय में एक धर्म को ही कह सकता है। अतः वस्तु के प्रतिपादक वक्ता के ज्ञान को श्रुत और उसके एक प्रतिपाद्य धर्म को नय कहते हैं। कथन की असमर्थता का निराकरण स्याद्वाद सिद्धान्त से हुआ। स्याद्वाद वस्तु को अनेकधर्मात्मक बताता है और नयवाद उसके किसी एक धर्म के कथन करनेवाले वक्ता के अभिप्राय को। स्यात् का अर्थ होता है 'कथंचित् या किसी अपेक्षा विशेष से'। वीतरागी उपदेश को श्रुत कहा जाता है। अकलंकदेव ने श्रुत के दो उपयोग बताए— एक स्याद्वाद श्रुत और दूसरा नय श्रुत। अनंत धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म का बोध करानेवाला वाक्य नय श्रुत या विकलादेश है। तथा एक धर्म के द्वारा अनंतधर्मात्मक वस्तु का बोध करानेवाला वाक्य स्याद्वाद श्रुत है। पूर्ण वस्तु का बोध कराने के कारण इसे सकलादेश भी कहते हैं। श्रुत प्रमाण के नैगमनय आदि सात भेद हैं, जो नय कहलाते हैं। श्रुत ज्ञान के सिवाय अन्य ज्ञानों के भेद नय नहीं हो सकते। मूल नय दो हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक, अभेद अर्थात् सत् सामान्य को विषय करता है, जबकि पर्यायार्थिक भेद, पर्याय-विशेष को।

लघीयस्त्रय में अकलंकदेव द्वारा वर्णित प्रमाण विषयक चार्ट इस प्रकार है—



नोट - अकलंकदेव के अनुसार मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिबोध ज्ञान यदि शब्द संसर्ग रहित हों तो सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष के भेद हैं और यदि शब्द संसर्ग सहित हों तो परोक्ष श्रुत प्रमाण के भेद जानना चाहिये।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अकलंक के उत्तरवर्ती जैन नैयायिकों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को एकमत से सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष स्वीकार किया किन्तु स्मृति आदि को किसी ने भी अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं माना, वे परोक्ष में ही अन्तर्भूत किये गये।

4. न्यायविनिश्चय सवृत्ति

अकलंकदेव की रचनाओं में न्यायविनिश्चय का महत्वपूर्ण स्थान है। सिद्धसेन के न्यायावतार के बाद जैन साहित्य में न्यायविनिश्चय ही एकमात्र ऐसा ग्रंथ है जिसके आधार पर उत्तरकालीन जैन-न्याय के साहित्य का सृजन हुआ। अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय पर पद्य-गद्यात्मक वृत्ति भी लिखी। वादिराज रचित न्यायविनिश्चय विवरण नामक टीका भी प्राप्त हुई है। न्यायविनिश्चय में तीन प्रस्ताव हैं— 1. **प्रत्यक्ष प्रस्ताव** - इसमें 169 कारिका हैं, 2. **अनुमान प्रस्ताव** —इसमें 216 कारिका हैं और 3. **आगम प्रस्ताव** —इसमें 94 कारिका हैं। इस प्रकार इसमें कुल 479 कारिकाएँ और पद्य हैं। यह प्रौढ़ और गम्भीर भाषा में निबद्ध है। प्रत्यक्ष प्रस्ताव में प्रत्यक्ष की विशद परिभाषा की गयी है। द्रव्य का लक्षण, गुण-पर्याय का स्वरूप, द्रव्य और पर्याय के साथ सामान्य और विशेष का प्रयोग किया गया है। द्रव्य और पर्याय की चर्चा करते हुए गुण और पर्याय में भेदाभेद बताते हुए उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का निरूपण किया है। इसमें ज्ञान को अर्थग्राही सिद्ध करते हुए बौद्ध मत के विकल्प-लक्षण, तदाकारता, विज्ञानवाद, नैरात्मवाद, परमाणुवाद की विस्तृत आलोचना की है और ज्ञान को स्वसंवेदी तथा निराकार सिद्ध किया है। इसमें बौद्ध के इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और योगि प्रत्यक्ष तथा सांख्य और नैयायिक के प्रत्यक्ष का खण्डन किया है। अंत में अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के लक्षण के साथ यह प्रस्ताव समाप्त हो जाता है।

दूसरा प्रस्ताव अनुमान से सम्बद्ध है। इसमें अनुमान का लक्षण, साध्य-साधनाभास के लक्षण, हेत्वाभास, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, जाति, वाद आदि का सुन्दर विवेचन है। जीव का स्वरूप, चैतन्य के सम्बन्ध में चार्वाक आदि के मत का खण्डन, वैशेषिक के 'अगुणवान गुणः' की आलोचना, नैयायिक के पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट और सांख्य के वीत, अवीत और वीतावीत हेतुओं की समालोचना आदि की है।

तीसरा प्रस्ताव आगम से सम्बन्धित है। इसमें आगम, मोक्ष और सर्वज्ञ का विवेचन करते हुए बुद्ध के करुणावत्त्व, सर्वज्ञत्व तथा चतुरार्यसत्त्व आदि की समीक्षा की है। इसमें वेदों के अपौरुषेयत्व और सांख्य के मोक्ष की आलोचना की है। अंत में सप्तभंगी निरूपण, स्याद्वाद में दिये जाने वाले संशयादि दोषों का परिहार, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि का प्रामाण्य और प्रमाण का फल आदि विषयों का विवेचन कर ग्रन्थ समाप्त हो जाता है।

विद्यानन्द ने श्लोकवार्तिक में इसके कई पद्य ज्यों-के-त्यों उद्धृत किये हैं। अकलंकदेव ने भी अष्टशती में इसकी दो-एक कारिकाएँ गद्यरूप में ली हैं। प्रमाण संग्रह में भी इसकी कारिकाएँ बहुतायत में मिलती हैं।

5. सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति

यह दुर्लभ ग्रंथ कच्छ देश के 'कोडाय' ग्राम के श्वेताम्बर ज्ञान भण्डार से अनंतवीर्य कृत टीका रूप में जीर्ण अवस्था में प्राप्त हुआ। इस टीका में मूल भाग बहुत कम है। फिर भी आद्य अक्षरों का उल्लेख कर टीका लिखी है। टीका में मूल का उल्लेख दो प्रकार से हुआ है। एक तो 'अत्राह' करके कारिका रूप से और दूसरे 'कारिका व्याख्यातुमाह' करके कारिका के व्याख्यान रूप से। इसी से यह ज्ञात हुआ कि टीका मूलग्रंथ और उसकी विवृति को लेकर बनाई गयी है।

सिद्धिविनिश्चय में 12 प्रस्ताव हैं जिनमें प्रमाण, नय और निक्षेप का विवेचन है। प्रत्येक प्रस्ताव में एक-एक विषय की सिद्धि की गयी है। इन प्रस्तावों का नाम इस प्रकार है— (1) प्रत्यक्ष सिद्धि (2) सविकल्प सिद्धि (3) प्रमाणान्तर सिद्धि (4) जीव सिद्धि (5) जल्प सिद्धि (6) हेतु लक्षण सिद्धि (7) शास्त्र सिद्धि (8) सर्वज्ञ सिद्धि (9) शब्द सिद्धि (10) अर्थनय सिद्धि (11) शब्दनय सिद्धि एवं (12) निक्षेप सिद्धि।

सिद्धसेन गणि की तत्वार्थटीका, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमाण मीमांसा और स्याद्वाद मंजरी में इसकी कारिकाएँ उद्धृत की गयी हैं। जिनशासन का यह एक प्रभावक ग्रन्थ माना गया है।

6. प्रमाण संग्रह सवृत्ति

एकान्त पक्ष के विरुद्ध जितने भी प्रमाण हो सकते थे, उनका संग्रह इस ग्रंथ में किया गया है। इसकारण इसकी भाषा और भाव अति कठिन है। यह गद्य-पद्यात्मक है। कहीं-कहीं गद्य भाग में पद्य का व्याख्यान भी किया है। अतः इसे अकलंकदेव के अन्य ग्रंथों का परिशिष्ट भी कहा जा सकता है। यह ग्रंथ पं. सुखलालजी के प्रयास से पाटन के भण्डार से प्राप्त हुआ। इस टीका से ऐसा लगता है कि अनन्तवीर्य ने इस पर भी प्रमाण संग्रहालंकार या प्रमाण संग्रह भाष्य नाम की टीका लिखी है। इसमें 9 प्रस्ताव हैं और 89 कारिकाएँ हैं, शेष भाग गद्य में है।

पहले प्रस्ताव में 8.5 कारिकाएँ हैं जिनमें विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहकर उसके इन्द्रिय, अनिन्द्रिय और अतीन्द्रिय रूप से तीन भेद किये हैं। प्रमाण का फल और प्रत्यक्ष विषयक सामग्री है। दूसरे प्रस्ताव में 9 कारिकाएँ हैं जिनमें परोक्ष प्रमाण के भेद स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को प्रमाण्य सिद्ध करके आगम के आलोक में परोक्ष पदार्थों के साथ अविनाभाव सम्बन्ध ग्रहण कर सकने का प्रतिपादन किया है। तर्क-कुतर्क का लक्षण दर्शाया है। तीसरे प्रस्ताव में 10 कारिकाएँ हैं जिनमें अनुमान प्रमाण तथा उसके अवयव, साध्य-साधन का लक्षण और अनेकान्तात्मक वस्तु में दिये जानेवाले संशयादि आठ दोषों की समीक्षा है। चौथे प्रस्ताव में 12.5 कारिकाएँ हैं जिनमें हेतु सम्बन्धी विचार, उसके भेदों का विवेचन तथा इसके त्रिरूप का खण्डन किया है। अन्य मतों की समीक्षा की है।

पाँचवें प्रस्ताव में 12 कारिकाएँ हैं जिनमें असिद्ध, विरुद्धादि हेत्वाभासों का निरूपण किया है। अज्ञात हेतु का अकिंचित्कर में अंतरभाव आदि हेत्वाभास विषयक प्ररूपण होकर अंतर्व्याप्ति का समर्थन किया है। छठे प्रस्ताव में 12.5 कारिकाएँ हैं जिनमें वाद का लक्षण, जय-पराजय, व्यवस्था का स्वरूप तथा जाति आदि का कथन किया है और अनेकान्त में संभवित आठ दोषों का परिहार करके वस्तु को उत्पादादिरूप सिद्ध किया है। इस प्रस्ताव में उल्लेखनीय वर्णन यह है कि बौद्धों ने जैनों को अहीक, पशु, अलौकिक, तामस, प्राकृत आदि विशेषण प्रयुक्त किये। अकलंकदेव ने अपनी प्रखर बुद्धि से इन शब्दों की असंगत-सिद्धान्त की व्याख्या कर उन्हें बौद्धों के लिए ही उपयुक्त सिद्ध किया। यथा, पशु लक्षण—

**प्रत्यक्षं निष्कलं शेषं भ्रान्तं सारूप्य कल्पनम्
क्षण स्थानमसत्कार्यमभाष्यं पशुलक्षणम्**

सातवें प्रस्ताव में 9.5 कारिकाएँ हैं जिनमें आगम प्रमाण का वर्णन कर सर्वज्ञ तथा अतीन्द्रिय ज्ञान की सिद्धि की है और तत्वज्ञान सहित चारित्र की मोक्ष हेतुता आदि विषयों का खुलासा किया है। आत्मा कर्ममल से छुटकारा कर कैसे सर्वज्ञ बनता है, इसका वर्णन है। आठवें प्रस्ताव में 13 कारिकाएँ हैं जिनमें सप्तभंगी के निरूपण के साथ नैगम आदि सात नयों का कथन आया है। नौवें प्रस्ताव की 2 कारिकाओं में निक्षेप का निर्देश करके प्रकरण का उपसंहार कर दिया है।

7. स्वरूप सम्बोधन

स्व. डॉ. विद्याभूषण ने अकलंक रचित ग्रंथों में इसका उल्लेख किया है। इसकी विषय-वस्तु और शैली कहीं-कहीं अकलंकदेव से मिलती है फिर भी पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने न्याय कुमुदचन्द्र की विस्तृत प्रस्तावना में मत व्यक्त किया कि यह रचना अकलंकदेव की नहीं है। उनके अनुसार स्वरूप सम्बोधन के रचयिता के बारे में दो परम्पराएँ प्रचलित हैं, एक के अनुसार उसके कर्ता अकलंक हैं और दूसरी के अनुसार नयसेन के शिष्य महासेन इसके कर्ता हैं। भरतेश वैभव में पद्मनन्दिकृत स्वरूप सम्बोधन का नाम आया है। इस दृष्टि से स्वरूप सम्बोधन के कर्ता कौन हैं यह विवाद का विषय है।⁸

8. बृहत्त्रय

पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री के मतानुसार बृहत्त्रय नाम जैसा ग्रन्थ देखने को नहीं मिला।⁹ उनके मत में 'लघीयस्त्रय' नाम ने ही बृहत्त्रय की कल्पना को जन्म दिया। पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार ने मत व्यक्त किया कि अकलंकदेव के तीन महत्व के ग्रंथ अर्थात्-सिद्धिविनिश्चय, न्याय विनिश्चय और प्रमाण संग्रह को ही बृहत्त्रय का नाम दे दिया हो। इस दृष्टि से यह काल्पनिक रचना समझी जाये।

9. न्याय चूलिका

अभी तक न्याय चूलिका नामका ग्रंथ उपलब्ध नहीं है और न ही अकलंकदेव की रचनाओं में इस नाम के किसी ग्रंथ का उल्लेख हुआ है।

10. अकलंक स्तोत्र

अकलंक स्तोत्र में 16 छन्द हैं। इसमें महादेव, शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, बुद्ध आदि देवताओं की आलोचना करते हुए वीतराग परमात्मा को निष्कलंक सिद्धकर उनका स्तवन किया है। इसके 15 एवं 16 वें पद्यों में अकलंक परमात्मा के स्थान पर शास्त्रार्थी अकलंकदेव की प्रशंसा की गयी है। स्तोत्र की विषय-वस्तु अकलंक के व्यक्तित्व एवं दार्शनिकता से मेल न खाने के कारण पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री इसे अकलंकदेव रचित नहीं स्वीकारते। अकलंकदेव ने इसके अंत में अपना नाम भी नहीं दिया जैसा कि अन्य रचनाओं में मिलता है।

अकलंकदेव का साहित्य तर्क प्रधान और विचार प्रधान होकर दार्शनिक समीक्षा से ओतप्रोत है। वे अल्पभाषी थे। जो भी लिखा गहन मनन, चिंतन और अध्ययन के बाद लिखा। वे शुष्क दार्शनिक न होकर विनोदी और परिहास-कुशल थे। उन्होंने बौद्धदर्शन का खण्डन तो किया किन्तु उनके मन में विद्वेष नहीं रहा। वे आस्तिक्य-बोध से संयुक्त रहे और जैनधर्म के अध्यात्म से निरंतर केलि करते रहे। इस दृष्टि से, आज जबकि साधर्मि बन्धुओं में दृष्टि भेद के कारण सहज सहिष्णुता का अभाव हो रहा है और कुछ भी प्रकाशित करने-करवाने की होड़ लगी है, अकलंकदेव का व्यक्तित्व प्रकाश स्तम्भ-रूप में दिशा-बोध करा रहा है कि आस्तिक्य-बोध-सहित सहिष्णु रहकर आत्म-कल्याण करो, जो भी लिखो सारगर्भित हो और खण्डन भी मण्डन की भावना से करो।

1. जैन साहित्य का इतिहास, भाग-2, पृष्ठ 316
2. वही, पृष्ठ 317
3. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-2, पृष्ठ 300
4. तत्त्वार्थ-वार्तिक भाग - 1, प्रस्तावना, पृष्ठ 3
5. वही, पृष्ठ 99
6. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-2, पृष्ठ 305
7. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-1, पृष्ठ 31
8. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग -1, प्रस्तावना, पृष्ठ 55
9. वही, प्रस्तावना, पृष्ठ 55-56

ओ.पी. मिल्स,
अमलाई - म.प्र.

हिंसा

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।

इन्द्रियाणां प्रचारविशेषमनवधार्यं प्रवर्तते यः स प्रमत्तः ।

व्यपरोपणं वियोगकरणं ॥ 6 ॥ वियोगकरणं व्यपरोपणमित्युच्यते प्राणा उक्ताः, तेषां व्यपरोपणं प्राणव्यपरोपणं ॥

प्राणग्रहणं तत्पूर्वकत्वात् प्राणिव्यपरोपणस्य ॥ 7 ॥ प्राणग्रहणं क्रियते तत्पूर्वकत्वात् प्राणिव्यपरोपणस्य । प्राण-वियोगपूर्वको हि प्राणिवियोगः स्वतः प्राणिनो निरवयवत्वा-द्वियोगाभावात् ।

अन्यत्वादधर्माभाषः इति चेत्; न; तद्दुःखोत्पादकत्वात् ॥ 8 ॥ स्यान्मतम्-प्राणेभ्योऽन्य आत्मा, अतः प्राणवियोगे नात्मनः किञ्चिद्भवतीत्यधर्माभावः स्यादिति; तन्न; किं कारणम्? तद्दुःखोत्पादकत्वात् । प्राणव्यपरोपणे ही सति तत्संबन्धिनो जीवस्य दुःखमुत्पद्यत इत्यधर्मसिद्धिः ।

शरीरिणोऽन्यत्वात् दुःखाऽभाव इति चेत्; न; पुत्रकलत्रादिवियोगे तापदर्शनात् ॥ 9 ॥ स्यादेतत्-अन्यः शरीरी प्राणेभ्यः, अतस्तत्पूर्वकदुःखमस्य न युज्यते इति; तन्न; किं कारणम्? पुत्रकलत्रादिवियोगे तापदर्शनात् । अन्यत्वेऽपि सति पुत्रकलत्रादिवियोगे तापो दृश्यते ।

बन्धं प्रत्येकत्वाच्च । 10 । यद्यपि शरीरिशरीरयोः लक्षणभेदान्नानात्वम्, तथापि बन्धं प्रत्येकत्वात् तद्वियोगपूर्वकदुःखोपपत्तेरधर्माऽभाव इत्यनुपालम्भः ।

तत्त्वार्थराजवार्तिक, 7.13

प्रमत्तयोग से प्राणव्यपरोपण को हिंसा कहते हैं । व्यपरोपण - वियोग करना । प्राणों के वियोग करने से प्राणी की हिंसा होती है अतः प्राण का ग्रहण किया है, क्योंकि स्वतः प्राणी तो निरवयव है, उसका क्या वियोग होगा? प्राण आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है जिससे प्राणवियोग होने पर भी हिंसा न मानी जाए किन्तु प्राणवियोग होने पर आत्मा को ही दुःख होता है अतः हिंसा है और अधर्म है । 'शरीरी आत्मा प्राणों से भिन्न है अतः उसके वियोग में भी आत्मा को दुःख नहीं होना चाहिये ।' - यह शंका ठीक नहीं है; क्योंकि जब सर्वथा भिन्न पुत्र-कलत्र आदि के वियोग में आत्मा को परिताप होता है तब कथंचित् भिन्न प्राणों के वियोग में तो होना ही चाहिए । यद्यपि शरीर और शरीरी में लक्षणभेद से नानात्व है फिर भी बन्ध के प्रति दोनों एक हैं अतः शरीर-वियोगपूर्वक होनेवाला दुःख आत्मा को ही होता है, अतः हिंसा और अधर्म है ।

अनु. - प्रो. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

अनेकान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव

— डॉ. अशोककुमार जैन



भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन का अप्रतिम स्थान है। भगवान महावीर ने अनेकान्त दृष्टिरूप, जिसे हम जैनदर्शन की जान कहते हैं, एक ऐसा व्यवहार्य मार्ग निकाला जिसके समुचित उपयोग से मानसिक, वाचिक तथा कायिक अहिंसा पूर्णरूप से पाली जा सकती है। इस तरह भगवान महावीर की यह अहिंसास्वरूपा अनेकान्तदृष्टि तो जैनदर्शन के भव्य प्रासाद का मध्यस्तम्भ है। इसी से जैनदर्शन की प्राण प्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शनशास्त्र सचमुच इस अतुल सत्य को पाये बिना अपूर्ण रहता। जैनदर्शन ने इस अनेकान्तदृष्टि के आधार से बनी हुई महत्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्र के कोषागार में अपनी ठोस और पर्याप्त पूंजी जमा की। पूर्णकालीन युगप्रधान समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि दार्शनिकों ने इसी दृष्टि के समर्थन द्वारा सत्-असत्, नित्यत्वानित्यत्व, भेदाभेद, पुण्य-पाप प्रकार, अद्वैत-द्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ आदि विविध वादों में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित किया। मध्यकालीन आचार्य अकलंक, आचार्य हरिभद्र आदि तार्किकों ने अंशतः परपक्ष खण्डन करके भी उसी दृष्टि को प्रौढ़ किया। इसी दृष्टि के विविध प्रकार में उपयोग के लिए सप्तभंगी, नय, निक्षेप आदि का निरूपण हुआ। इस तरह भगवान महावीर ने अपनी अहिंसा की पूर्ण साधना के लिए अनेकान्तदृष्टि का आविर्भाव करके जगत् को वह ध्रुव बीजमन्त्र दिया जिसका समुचित उपयोग संसार को पूर्ण सुख-शान्ति का लाभ करा सकता है।¹

आचार्य अकलंकदेव का जैनन्याय में वही विशिष्ट स्थान है जो बौद्ध दर्शन में धर्मकीर्ति, मीमांसा दर्शन में भट्ट कुमारिल, प्रभाकर दर्शन में प्रभाकर मिश्र, न्याय-वैशेषिक में उद्योतकर और

व्योमशिव तथा वेदान्त में शंकराचार्य का है। आचार्य शुभचन्द्र ने मुग्ध होकर उनकी पुण्य सरस्वती को अनेकान्त गगन की चन्द्रलेखा लिखा है।¹ उनके द्वारा रचित तत्त्वार्थवार्तिक में जैनदर्शन के प्राण अनेकान्तवाद को बहुत व्यापक रूप दिया गया है। जितने विवाद उत्पन्न किये गये हैं उन सबका समाधान प्रायः अनेकान्तरूपी तुला के आधार पर ही किया गया है। खोजने पर ऐसे बिरले ही सूत्र मिलेंगे जिसमें 'अनेकान्तात्' वार्तिक न हो। चतुर्थ अध्याय के अन्त में अनेकान्तवाद के स्थापनपूर्वक नय-सप्तभंगी और प्रमाण-सप्तभंगी का विवेचन किया गया है।³

आचार्य अकलंकदेव ने वस्तु सर्वथा सत् ही है अथवा असत् ही है, नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार सर्वथा एकान्त के निराकरण करने को अनेकान्त कहा है।⁴ जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। उसका मत है कि प्रत्येक वस्तु परस्पर में विरोधी कहे जानेवाले नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व, अस्तित्व-नास्तित्व आदि अनन्त धर्मों का समूह है और वह प्रमाण का विषय है। अनेकान्तवादी होने के कारण जैनदर्शन ने शब्द की प्रतिपादकत्व शक्ति पर भी विचार किया और उसकी असामर्थ्य का अनुभव न करके स्याद्वाद के सिद्धान्त का आविष्कार किया। उसने देखा कि वस्तु के अनन्तधर्मा होने पर भी वक्ता अपने-अपने दृष्टिकोण से उसका विवेचन करते हैं। द्रव्यदृष्टिवाला उसे नित्य कहता है, पर्यायदृष्टिवाला उसे अनित्य कहता है, अतः इन विभिन्न दृष्टियों का समन्वय होना आवश्यक है।

आचार्य अकलंकदेव ने वस्तु-व्यवस्था के निर्धारण में अनेकान्त-प्रक्रिया की प्रतिष्ठापना में अनेक प्रकार से विचार किया है जिनको हम निम्न बिन्दुओं में वर्णन कर रहे हैं -

तत्त्व-व्यवस्था में अनेकान्त - आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है कि जीव, अजीव और आस्रवादि के भेदाभेद का अनेकान्त दृष्टि से विचार करना चाहिए क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय में एक को प्रधान और एक को गौण करके विवक्षा और अविवक्षा के भेद से जीव और अजीव में आस्रवादि का अन्तर्भाव हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। जैसे आस्रवादि, द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के हैं। द्रव्यास्रवादि पुद्गल रूप हैं और भावास्रवादि जीव रूप। पर्यायार्थिक नय की गौणता और द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से तथा आस्रवादि प्रतिनियत-पर्यायार्थ की अविवक्षा एवं अनादि पारिणामिक चैतन्य (जीव) और अचैतन्य (अजीव) द्रव्यार्थ की विवक्षा से कथन करने पर भावास्रव का जीव द्रव्य में और द्रव्यास्रव का अजीव द्रव्य में अन्तर्भाव हो जाता है तथा द्रव्यार्थिक नय की गौणता और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से एवं आस्रवादि प्रतिनियत-पर्याय की विवक्षा एवं अनादि पारिणामिक चैतन्य तथा अचैतन्य द्रव्य की अविवक्षा से कथन करने पर जीव और अजीव में आस्रवादि का अन्तर्भाव नहीं होता अर्थात् आस्रव, बंध आदि स्वतंत्र हैं। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा इनका पृथक् निर्देश सार्थक है, निरर्थक नहीं।⁵

वस्तु की विधि-निषेधात्मकता - जितने भी पदार्थ शब्दगोचर हैं वे सब विधि-निषेधात्मक हैं। कोई भी वस्तु सर्वथा निषेधगम्य नहीं होती। आत्मा शब्दगोचर है इसलिए उभयात्मक है जैसे कुरबक पुष्प लाल और श्वेत दोनों रंग का नहीं होता है तथापि वह वर्णशून्य नहीं है। लाल और

सफेद भी नहीं है प्रतिषिद्धत्व होने से। इसी प्रकार परचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु में नास्तित्व होने पर भी स्वदृष्टि से उसका अस्तित्व सिद्ध ही है। कहा भी है कथञ्चित् असत् की भी उपलब्धि और अस्तित्व है तथा कथञ्चित् सत् की भी अनुपलब्धि और नास्तित्व है। यदि सर्वथा सत् की अस्ति और उपलब्धि है ऐसा मान लिया जावे तो घट की पटादि रूप से भी उपलब्धि होने के कारण सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जायेंगे। सर्वथा असत् की अनुपलब्धि और नास्तित्व नहीं है क्योंकि असत् की भी सर्वथा अनुपलब्धि एवं नास्तित्व मान लेने पर पदार्थ वचन के अगोचर हो जायेंगे अर्थात् पदार्थ का अभाव हो जाने से वह शब्द का विषय ही नहीं हो सकेगा।⁶

पर्याय और पर्यायी में अनेकान्त - पर्याय और पर्यायी के भेद और अभेद में घटादि के समान अनेकान्तपना है। जैसे घट, कपाल, सिकोरा, धूलि आदि में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों की अपेक्षा कथञ्चित् एकत्व है और कथञ्चित् भिन्नत्व है क्योंकि यदि इसमें पर्यायार्थिक नय की गौणता हो तथा द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता हो और पर्याय की अविषयता तथा मिट्टीरूप अनुपयोगी अजीव द्रव्य की विवक्षा से वर्णन किया जाये तो घट, कपालादि में एकत्व है क्योंकि घट, कपालादि मिट्टीरूप द्रव्य को नहीं छोड़ते हैं। यदि द्रव्यार्थिक नय की गौणता हो, पर्यायार्थिक नय की मुख्यता हो, द्रव्य की अविषयता और बाह्याभ्यंतर कारणोंजनित पर्याय की विवक्षा से कथन किया जाये तो घट, कपालादि में अन्यत्वपना है क्योंकि घट पर्याय और कपालादि पर्यायें परस्पर पृथक्-पृथक् हैं इसलिए मिट्टीरूप द्रव्य की अपेक्षा द्रव्यार्थिक नय से घट, सिकोरादि में कथञ्चित् एकत्व और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा पृथक्त्व है क्योंकि मिट्टी का ही परिणमन होने से इनमें एकत्व है। उभयकारणों के फलस्वरूप प्राप्त हुई घट, कपालादि पर्याय मिट्टीरूप ही है, मिट्टी अन्य नहीं है और घटादि पर्याय भी अन्य नहीं है, क्योंकि मिट्टी द्रव्य को छोड़कर घटादि पर्यायें उपलब्ध नहीं हैं। पर्याय और पर्यायी में भेदरूप कथन किया जाये तो दोनों में भिन्नता है क्योंकि पर्यायी मिट्टी द्रव्य है और घटादि पर्याय है।⁷

आत्मा और ज्ञान में भिन्नाभिन्नत्व - आत्मा और ज्ञानादि में कथञ्चित् भिन्नता है और कथञ्चित् अभिन्नता है। द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता एवं पर्यायार्थिक नय की गौणता और पर्याय की अविषयता तथा अनादि पारिणामिक चैतन्य स्वभावरूप जीव द्रव्य की विवक्षा से कथन किया जाये तो ज्ञानादि गुणों में और आत्मा में एकत्व है क्योंकि ज्ञानादि गुण अनादि पारिणामिक चैतन्य-स्वरूप जीव द्रव्य को नहीं छोड़ते हैं। यदि उनके ही द्रव्यार्थिक नय की गौणता, पर्यायार्थिक नय की प्रधानता, द्रव्य की अविषयता तथा कारण विशेष से आपादित भेद-पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से कथन किया जाये तो ज्ञानादि गुण आत्मा से कथञ्चित् भिन्न हैं क्योंकि ज्ञान पर्याय अन्य है और दर्शन पर्याय अन्य है इसलिए आत्मा से ज्ञानादि पर्यायें कथञ्चित् भिन्न हैं और कथञ्चित् अभिन्न हैं। आत्मा और ज्ञान पृथक्-पृथक् नहीं हैं। आत्म द्रव्य को छोड़कर अन्यत्र ज्ञानादि पर्यायों का अभाव है। पर्याय और पर्यायी की भेद-विवक्षा से कथन करने पर दोनों भिन्न हैं और द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अभिन्न है। आत्मा पर्यायी है और ज्ञानादि पर्याय है। आत्मा आधार है, ज्ञान आधेय है इसलिए आत्मा और ज्ञान के भेदाभेद के प्रति अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग करना चाहिए।⁸

आत्मा की मूर्तामूर्तिकता - जैनदर्शन में षट् द्रव्य व्यवस्था में धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य अमूर्त हैं और पुद्गल मूर्त द्रव्य है। आत्मा के मूर्तिक, अमूर्तिक के प्रति अनेकान्त है। कथञ्चित् आत्मा मूर्तिक है और कथञ्चित् अमूर्तिक है। कर्मबन्ध पर्याय के प्रति एकत्व होने से आत्मा कथञ्चित् मूर्तिक है क्योंकि आत्मा के कार्माण शरीर का अनादि सम्बन्ध है। तथापि अपने ज्ञानादि स्वलक्षण को नहीं छोड़ने के कारण कथञ्चित् अमूर्तिक है।⁹

आत्मा की एकानेकात्मकता - आचार्य अकलंकदेव ने कहा है कि जीव एक होकर भी अनेकात्मक है अर्थात् जीव एकानेक स्वरूपात्मक है। यहाँ प्रश्न है जो एक है वह अनेक धर्मात्मक कैसे हो सकता है? इसका समाधान करते हुए कहा है वह अभाव से विलक्षण होने से 'अभूत' नहीं है, एकरूप का अभाव है अर्थात् 'अ' = नहीं है, 'भाव' = एकरूपता जिसमें, उसे अभाव कहते हैं। वह अभाव एकरूप है क्योंकि उसमें कोई भेद नहीं पाया जाता। अतः वह अभाव रूप से एक है परन्तु अभाव से विलक्षण जो भाव है वह तो नाना रूप है अर्थात् भाव में तो अनेक धर्म और अनेक भेद पाये जाते हैं, अभाव में नहीं है। यदि ऐसा नहीं माना जाये तो भाव और अभाव इन दोनों में अविशेषता हो जायेगी और वे दोनों एक हो जायेंगे। वह भाव छः प्रकार का है। जन्म, अस्तित्व, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश अर्थात् भाव में ही जन्म, सद्भावादि देखे जाते हैं। बाह्याभ्यन्तर दोनों निमित्तों के कारण आत्मलाभ करना जन्म है। यह इसका विषय है अर्थात् जन्म 'जायते' क्रियापद का विषय है जैसे मनुष्य गति आदि नामकर्म के उदय की अपेक्षा से आत्मा मनुष्यादि रूप पर्याय से उत्पन्न होता है ऐसा कहा जाता है। मनुष्यादि आयु के निमित्तों के अनुसार उस पर्याय में अवस्थान होना उसका सद्भाव, स्थिति या अस्तित्व है। इसमें अस्ति क्रिया का सम्बन्ध है। सत्भावरूप पदार्थ का अवस्थान्तर पदार्थ का पर्यायान्तर होना परिणाम है अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप से विद्यमान है उसका समूल नाश न होकर उसी में पर्यायों का पलटना परिणाम है। पूर्व स्वभाव को न छोड़कर भावान्तर से आधिक्य हो जाना वृद्धि है। जैसे अनुगत रूप मानव पर्याय को कायम रखते हुए शरीर की वृद्धि होती है। क्रमशः एकदेश का जीर्ण-शीर्ण होना अपक्षय कहलाता है जैसे मनुष्य पर्याय को कायम रखते हुए शरीर का क्षीण होना। सद्रूप पदार्थ के पर्याय सामान्य की सर्वथा निवृत्ति का नाम विनाश है जैसे मनुष्यायु का क्षय हो जाने से मनुष्य पर्याय का नाश। इस प्रकार प्रतिक्षण पर्याय भेद से पदार्थों में अनन्तरूपता होती है, अतः भावात्मक पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है अथवा सत्व, ज्ञेयत्व, द्रव्यत्व, अमूर्तत्व, अति सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, असंख्येय प्रदेशत्व, अनादिनिधनत्व और चेतनत्व की दृष्टि से भी जीव अनेकधर्मात्मक है। आत्मा नामक पदार्थ सत्स्वरूप है, ज्ञान का विषय होने से ज्ञेय है, गुण-पर्याय-सहित होने से द्रव्य है, रूपादि रहित होने के कारण अमूर्तिक हैं, इन्द्रियों का विषय न होने से अतिसूक्ष्म है, एक में अनेक रहने के कारण अवगाहनत्व है, किसी-न-किसी प्रकार से मुक्त होने के कारण प्रदेशात्मक है, उत्पत्ति और विनाश-रहित होने से अनादि-निधन है और चेतना गुण से युक्त होने के कारण चेतनात्मक है। इस प्रकार एक ही पदार्थ पर्यायों के भेद से अनेक धर्मस्वरूप है।

आत्मा अनेक शक्तियों का आधार होने से भी अनेक धर्मात्मक है। जैसे घी चिकना है, तृप्ति करता है और उपवृंहण करता है अतः अनेक शक्तिवाला है, अथवा जैसे घड़ा जल धारण, आहरण आदि अनेक शक्तियों से युक्त है उसी प्रकार आत्मा भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से अनेक प्रकार की विकार प्राप्ति के योग्य वैभाविक शक्तियों के योग से अनेक धर्मात्मक है।¹⁰

सम्बन्धि रूपत्व होने से अनेक धर्मात्मकता - वस्तु अन्तर सम्बन्ध से आविर्भूत अनेक सम्बन्धि रूपत्व होने से भी अनेक धर्मात्मक है। जैसे एक ही घट अनेक सम्बन्धियों की अपेक्षा पूर्व-पश्चिम, अन्तरित-अनन्तरित, दूर-आसन्न, नवीन-पुराना, समर्थ-असमर्थ, देवदत्तकृत, चैत्रस्वामिकत्व, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग आदि भेद से अनेक व्यवहारों का विषय होता है क्योंकि सम्बन्धों की अनन्तता से सम्बन्धी भी अनन्त होते हैं, उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त सम्बन्धियों की अपेक्षा आत्मा भी उन-उन अनेक पर्यायों को धारण करनेवाला होने से, अनेक धर्मात्मक है। अथवा पुद्गलों के अनन्तता है और उस-उस पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से एक-एक पुद्गलस्थ एक-एक पर्याय की विवक्षा से अनन्तता होती है जैसे एक ही प्रदेशिनी अंगुली अनन्त पुद्गलों की अपेक्षा अनेक भेदों को धारण करती है। प्रदेशिनी अंगुली में मध्यमा की अपेक्षा जो भिन्नता है वही अनामिका की अपेक्षा नहीं है, प्रत्येक पररूप का भेद पृथक्-पृथक् है। अतः मध्यमा और अनामिका में एकत्व नहीं है क्योंकि मध्यमा और प्रदेशिनी में अन्यत्व हेतुत्व से अविशेषता है अर्थात् समानता नहीं है, और न इनका एक-दूसरे की अपेक्षा अर्थसत्त्व है। मध्यमा ने प्रदेशिनी में ह्रस्वत्व उत्पन्न नहीं किया है। यदि मध्यमा के सामर्थ्य से प्रदेशिनी में ह्रस्वत्व उत्पन्न होता है तो शश विषाण में या शक्रयष्टि में भी ह्रस्वत्व उत्पन्न होना चाहिए था और न स्वतः ही प्रदेशिनी में ह्रस्वता होती है क्योंकि परायेशाभाव में उसकी व्यक्ति का अभाव है अन्यथा अनामिका के अभाव में ह्रस्वता की प्रतीति होनी चाहिए थी। अतः अनन्त परिणामी द्रव्य ही उन-उन संस्कारी कारणों की अपेक्षा उन-उन रूप से व्यवहार में आता है। न तो वह द्रव्य स्वतः ही अनन्तरूप है और न वह सर्वथा परकृत है, स्याद्वाद में ही इनकी सिद्धि होती है। उसी प्रकार जीव भी कर्म और नोकर्म विषय के सम्बन्ध भेद से उत्पन्न जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान तथा वस्तु उपकरण (कुण्डल, दण्ड) आदि के सम्बन्ध से कुण्डली, दण्डी आदि अनेक पर्यायों को धारण करता है।¹¹

पर्यायों की अपेक्षा से वस्तु में अनन्तधर्मात्मकता - अतीत, अनागत और वर्तमान काल के सम्बन्ध से भी आत्मा अनन्तधर्मात्मक है जैसे मिट्टी आदि वस्तु में समुदाय अवयव के प्रध्वंश रूप का विषय करनेवाले अतीतकाल, उत्पत्ति की निश्चय से संभावना करनेवाले भविष्यत् काल और साधन-प्रवृत्ति अविराम (क्रिया सातत्यरूप) गोचर वर्तमान काल के सम्बन्ध से मिट्टी आदि द्रव्य उन-उन कालों में अनेक भेदों (पर्यायों) को प्राप्त होते देखे जाते हैं। यदि वर्तमान काल मात्र माना जाये तो पूर्व और अपरत्व (उत्तर) की अवधि का अभाव होने से 'बंध्या का पुत्र युवा है' इस कथन के समान वर्तमान काल का भी अभाव हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा भी अनादि-अतीत काल सम्बन्धी परिणत सम्भावनीय, अनन्त, भविष्यत्कालवर्ती तथा वर्तमान कालोद्भूत अर्थ और व्यञ्जन पर्यायों के भेद से द्वैविध्य को प्राप्त होनेवाली पर्यायों के (अर्थपर्याय और व्यञ्जन पर्यायों) सम्बन्ध से अनन्त धर्मात्मक है।¹²

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मकता से पदार्थ की अनेक धर्मात्मकता - जैनदर्शन में द्रव्य का लक्षण सत् कहा गया है और वह सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है। इस कारण से भी पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है। अनन्त काल और एक काल में अनन्त प्रकार के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होने के कारण आत्मा अनेकान्तरूप है। जैसे घट एक ही काल में द्रव्य दृष्टि से पार्थिव (मिट्टी) रूप से उत्पन्न होता है, जलरूप से नहीं; देश की अपेक्षा यहाँ उत्पन्न होता है, पटना आदि में नहीं; काल की विवक्षा से वर्तमान काल में उत्पन्न होता है, अतीत अनागत काल में नहीं; भाव-दृष्टि से बड़ा उत्पन्न होता है, छोटा नहीं। द्रव्यादि के एक-एक का यह उत्पाद सजातीय मिट्टी के अनेक अन्य घटान्तर्गत, सुवर्ण आदि ईषद् विजातीय घटान्तर्गत और अत्यन्त विजातीय पट (वस्त्र) आदि अनन्तान्त मूर्तिक-अमूर्तिक द्रव्यान्तर्गत उत्पाद से भेदरूप होते हुए उत्पाद उतने ही भेदों को प्राप्त हो जाता है अर्थात् मिट्टी से घट का उत्पाद, स्वर्ण से घट का उत्पाद आदि में भेद से उत्पाद अनेक प्रकार का हो जाता है। यदि उत्पाद में भेद नहीं माना जायेगा तो सर्व घटों के साथ अविशेषता (अभिन्नता) आ जायेगी। सर्व एकता को प्राप्त हो जायेंगे। इसी प्रकार वही द्रव्य (घट) उस समय अनुत्पद्यमान (उत्पन्न नहीं होनेवाले) द्रव्य के सम्बन्ध से कृत, ऊपर, नीचे, तिरछे, अन्तरित, अनन्तरित, एकान्तरादि दिशाओं के भेद से महान अल्प आदि गुण भेद से, रूपादि के उत्कर्ष, अपकर्ष आदि अनन्त भेद से और त्रिलोक एवं त्रिकाल विषय सम्बन्धी भेद से विद्यमान (भेद को प्राप्त होनेवाला) उत्पाद अनेक प्रकार का है तथा अनेक अवयवात्मक स्कन्ध प्रदेश भेद, दृष्ट, विषय, उत्पाद की नानारूपता होने से ही उत्पाद अनेक प्रकार का है अथवा जलधारण, आहरण, प्रदानाधिकरण, भय, हर्ष, शोक, परिताप जननादि स्वकार्य के प्रसाधन के निमित्त से उत्पाद अनेक प्रकार का है। जैसे उत्पाद अनेक प्रकार का है उसी प्रकार उत्पाद का प्रतिपक्षी विनाश भी उतने ही प्रकार का है क्योंकि पूर्व पर्याय का विनाश हुए बिना नूतन उत्पाद की संभावना नहीं है। उत्पाद और विनाश की प्रतिपक्षीभूत स्थिति भी उतने ही प्रकार की है क्योंकि उत्पत्ति और विनाश की आधारभूत स्थिति के बिना बन्ध्या के पुत्र के समान उत्पाद और विनाश के अभाव का प्रसंग आता है अर्थात् स्थिति के बिना उत्पाद और विनाश नहीं हो सकता। जब घट उत्पन्न होता है; इस प्रयोग को वर्तमान काल तो इसलिए नहीं मान सकते कि अभी तक घड़ा उत्पन्न ही नहीं हुआ है अर्थात् पूर्वापरीभूत साध्यमान भाव के अभिधान का वर्तमान में असत्त्व है। उत्पत्ति के अनन्तर यदि शीघ्र ही विनाश मान लिया जाये तो सद्भाव की अवस्था का प्रतिपादक कोई शब्द ही प्रयुक्त नहीं होगा तथा प्रतिपादक शब्द का अभाव होने से उत्पाद में भी अभाव हो जायेगा और विनाश में भी अभाव हो जायेगा और भावाभाव (अस्ति-नास्ति) रूप पदार्थ का विनाश हो जाने पर तदाश्रित व्यवहार का भी लोप हो जायेगा तथा बीज शक्ति का अभाव होने से उत्पाद और विनाश शब्द वाच्यता का भी अभाव हो जायेगा। अतः पदार्थ में उत्पद्यमानता, उत्पन्नता और विनाश ये तीन अवस्थायें अवश्य स्वीकार करनी चाहिए तथा एक जीव में भी द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय के गोचर सामान्य विशेष अनन्त शक्तियाँ और उत्पत्ति, विनाश, स्थिति आदि रूप होने से अनेकान्तात्मकता समझनी चाहिए।¹³

परस्पर विरोध प्रतीत होते हुए भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीनों के युगपत् होने में कोई विरोध नहीं है क्योंकि जिस दृष्टि से उत्पाद और व्यय की कल्पना करते हैं, यदि उसी दृष्टि से ध्रौव्य नित्य कहा जाता है तो अवश्य विरोध आता है जैसे कि एक ही अपेक्षा किसी पुरुष को पिता और पुत्र कहते हैं परन्तु धर्मान्तर का आश्रय लेकर कहने में कोई विरोध नहीं है। जैसे एक ही पुरुष को पिता की अपेक्षा पुत्र और पुत्र की अपेक्षा पिता कहा जाय तो कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य को अनित्य कहने में कोई विरोध नहीं है। अतः दोनों की अपेक्षा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों एकसाथ घटित हो जाते हैं।¹⁴

द्रव्य और पर्याय का अविनाभाव - आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है कि गौण और मुख्य की विवक्षा से एक ही वस्तु में नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म सिद्ध हैं।¹⁵ आचार्य अकलंकदेव ने अर्पित को परिभाषित करते हुए लिखा—‘धर्मान्तर विवक्षाप्रापितप्राधान्यमर्पितम्’ अर्थात् धर्मान्तर की विवक्षा से प्राप्त प्राधान्य अर्पित कहलाता है। अनेक धर्मात्मक वस्तु के प्रयोजन वश जिस धर्म की विवक्षा की जाती है वा विवक्षित जिस धर्म को प्रधानता मिलती है, उस अर्थ रूप को अर्पित कहते हैं।

अर्पित से विपरीत अनर्पित है। प्रयोजन का (वक्ता की इच्छा का) अभाव होने से सत् (विद्यमान) पदार्थ की अविवक्षा हो जाती है, अतः उपसर्जनीभूत (गौण) पदार्थ अनर्पित (अविवक्षित) कहलाता है। अर्पित और अनर्पित अर्पितानर्पित है अर्थात् अनर्पित के द्वारा वस्तु की सिद्धि होती है। अतः सत् पदार्थ का नित्यत्व अर्पित-अनर्पित से सिद्ध है। जैसे जब ‘मृत्पिण्ड-रूपी द्रव्य’ के रूप में अर्पित होता है तब वह नित्य है क्योंकि वह मृत्पिण्ड कभी भी रूपित्व वा द्रव्यत्व को नहीं छोड़ता है। जब वही अनेक धर्मरूप से परिणमन करनेवाले इस मृत्पिण्ड का धर्मान्तर की विवक्षा से मृत्पिण्ड के रूपित्व और द्रव्यत्व को गौण करके केवल ‘मृत्पिण्ड’ रूप पर्याय की विवक्षा करते हैं तो वह मिट्टी का पिण्डरूप पुद्गल द्रव्य अनित्य है क्योंकि उसकी वह पर्याय (पिण्ड पर्याय) अध्रुव है, अनित्य है। यदि केवल द्रव्यार्थिक नय की विषयभूत वस्तु मानी जाये तो व्यवहार का लोप हो जायेगा क्योंकि पर्यायशून्य केवल द्रव्यरूप वस्तु का अभाव है। यदि केवल वस्तु पर्यायार्थिक नय के गोचर ही मानी जाय तो लोकयात्रा सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि द्रव्य से रहित पर्याय मात्र वस्तु का अभाव है, उभयात्मक वस्तु ही लोकयात्रा कराने में समर्थ है। अतः उभयात्मक वस्तु की प्रसिद्धि है।¹⁶

अन्वय और व्यतिरेक रूप से पदार्थ की अनेक धर्मात्मकता - अन्वय और व्यतिरेक रूप होने से भी पदार्थ अनेक धर्मात्मक है। जैसे इस लोक में एक ही घड़ा सत् अचेतन आदि सामान्य रूप से अन्वय धर्म का तथा नूतन-पुरातन आदि विशेष रूप से व्यतिरेक धर्म का आधार होने से अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार अन्वय व्यतिरेक रूप सामान्य और विशेष धर्मों का आधारभूत आत्मा एक होता हुआ भी अनेक धर्मात्मक है।¹⁷

प्रमाण और नयापेक्षा अनेकान्त-एकान्त व्यवस्था - तत्त्वार्थवार्तिक में प्रश्न उपस्थित करते हुए लिखा है कि अनेकान्त में भी विधि-प्रतिषेध की कल्पना नहीं है। यदि अनेकान्त में यह विधि-प्रतिषेध कल्पना लगती है तो वह अनेकान्त नहीं हो सकता है। क्योंकि जिस समय अनेकान्त में 'नास्ति' भंग प्रयुक्त होता है, उस समय एकान्तवाद का प्रसंग आ जायेगा और अनेकान्त में भी अनेकान्त लगाने पर अनवस्था दूषण आता है, अतः अनेकान्त को अनेकान्त ही कहना चाहिए। इसलिए सप्तभंगी भी व्याप्तवान नहीं हैं। इसका समाधान देते हुए लिखा है कि ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि अनेकान्त में भी 'स्याद् एकान्त, स्याद् अनेकान्त, स्याद् उभय, स्याद् अवक्तव्य, स्याद् एकान्त अवक्तव्य, स्याद् अनेकान्त अवक्तव्य, स्याद् उभय अवक्तव्य' इस प्रकार प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकान्त रूप से अनेकमुखी कल्पनायें हो सकती हैं अर्थात् प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त है और नय की अपेक्षा एकान्त है।

प्रमाण और नय की विवक्षा से भेद है। एकान्त दो प्रकार का है सम्यग् और मिथ्या। अनेकान्त भी सम्यग् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त के भेद से दो प्रकार का है। प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एकदेश की हेतु विशेष के सामर्थ्य की अपेक्षा से ग्रहण करनेवाला सम्यग् एकान्त है। एक धर्म का सर्वथा (एकान्त रूप से) अवधारण करने अन्य धर्मों का निराकरण करनेवाला मिथ्या एकान्त है। एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों को ग्रहण करनेवाला सम्यक् अनेकान्त है तथा वस्तु को तत् अतत् आदि स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करनेवाला अर्थ शून्यवान विलास मिथ्या अनेकान्त है।

एक धर्म का निश्चय करने में प्रवीण होने से नय की विवक्षा से एकान्त है। अनेक धर्मों के निश्चय का अधिकरण (आधार) होने के कारण प्रमाण विवक्षा से अनेकान्त है। यदि अनेकान्त अनेकान्त ही माना जाये और एकान्त का लोप किया जाये तो सम्यक् एकान्त के अभाव में शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव की तरह तत्समुदायरूप अनेकान्त का भी अभाव हो जायेगा। यदि एकान्त ही माना जाये तो उसके अविनाभावी शेष धर्मों का निराकरण हो जाने से प्रकृत शेष का भी लोप हो जाने से सर्वलोप का प्रसंग प्राप्त होता है।¹⁸

अनेकान्त में छल का अभाव है - आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है कि अनेकान्त छलमात्र है ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि छल के लक्षण का अनेकान्त में अभाव है। जो अस्ति है वही नास्ति है, जो नित्य है वही अनित्य है, इस प्रकार अनेकान्त की प्ररूपणा छलमात्र है ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि छल के लक्षण का अनेकान्त में अभाव है। छल का लक्षण है 'वचन विधातोऽर्थ विकल्पोपपत्त्या छलम्' अर्थात् अर्थों के विकल्प की उपपत्ति से वचनों का विधान। जैसे - 'नवकम्बलोड्यं देवदत्तः' यहाँ नव शब्द के दो अर्थ हैं एक 9 संख्या और दूसरा नया। यहाँ 'नूतन' विवक्षा से कहे गये 'नव' शब्द का 9 संख्या रूप अर्थ विकल्प करके वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना छल कही जाती है जैसे इसके नव कम्बल हैं, इस कथन में वक्ता का अभिप्राय था इसके पास नौ कम्बल हैं चार, पांच नहीं। श्रोता ने इसका अर्थ लिया इसका कम्बल नया कम्बल है पुराना नहीं। किन्तु सुनिश्चित उभय नय के वश के कारण मुख्य गौण विवक्षा से संभव अनेक धर्मों का सुनिर्णीतरूप से प्रतिपादन करनेवाला अनेकान्तवाद छल नहीं हो सकता क्योंकि इसमें वचन-विधात नहीं किया गया है, अपितु यथावस्थित वस्तु तत्त्व का निरूपण किया गया है।¹⁹

अनेकान्तवाद संशय का हेतु नहीं - एक आधार में विरोधी अनेक धर्मों का रहना असंभव है, अतः अनेकान्तवाद संशय का हेतु है क्योंकि आगम में लिखा है कि द्रव्य एक है, पर्यायें अनन्त हैं। आगम प्रमाण से वस्तु अस्ति है कि नास्ति है? नित्य है कि अनित्य है? इत्यादि प्रकार से संशय होता है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि विशेष लक्षण की उपलब्धि होती है। सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष होने से विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष न होने पर (किन्तु) उभय विशेषों का स्मरण होने से संशय होता है। जैसे धुंधली (न अति प्रकाश है न अधिक अंधेरा) ऐसी रात्रि में स्थाणु और पुरुषगत ऊँचाई आदि सामान्य धर्म की प्रत्यक्षता होने पर स्थाणुगत कोटर पक्षि निवास और पुरुषगत सिर खुजलाना, चोटी बांधना, वस्त्र हिलाना आदि विशेष धर्मों के न दिखने पर किन्तु इन विशेषों का स्मरण रहने पर (ज्ञान दो कोटियों में दोषित हो जाता है कि यह स्थाणु है या कुरूप) संशय उत्पन्न हो जाता है किन्तु अनेकान्तवाद में विशेष धर्मों की अनुपलब्धि नहीं है क्योंकि स्वरूपादि के आदेश से वशीकृत उक्त विशेष प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं। अतः विशेष की उपलब्धि होने से अनेकान्तवाद संशय का हेतु नहीं है। सब धर्मों की सत्ता अपनी-अपनी निश्चित अपेक्षाओं से स्वीकृत है। तदद् धर्मों का विशेष प्रतिभास निर्विवाद सापेक्ष रीति से बताया गया है। अनेकान्तवाद को संशय का आधार भी कहना उचित नहीं है क्योंकि अस्ति आदि धर्मों को पृथक्-पृथक् सिद्ध करनेवाले हेतु हैं या नहीं? यदि हेतु नहीं हैं तो प्रतिपादन कैसा? यदि हेतु हैं तो एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्मों की सिद्धि होने पर संशय होना ही चाहिए। विरोध के अभाव में संशय का अभाव होता है। यदि विरोध होगा तो संशय अवश्य होगा परन्तु नयों के माध्यम से कथित धर्मों में विरोध नहीं होता।²⁰

इस प्रकार आचार्य अकलंकदेव ने अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठापना में महनीय योगदान दिया। अनेकान्त व्यवस्था के प्रतिपादन में संक्षेप में निम्न बिन्दु ध्यातव्य हैं—

1. कर्ता और करण के भेदाभेद की चर्चा।
2. आत्मा का ज्ञान से भिन्नाभिन्नत्व।
3. मुख्य और अमुख्यों का विवेचन करते हुए अनेकान्त दृष्टि का समर्थन।
4. सप्तभंगी के निरूपण के पश्चात् अनेकान्त में अनेकान्त की योजना।
5. अनेकान्त में प्रतिपादित छल, संशय आदि दोषों का निराकरण करते हुए अनेकान्तात्मकता की सिद्धि।
6. नयों का सोपपत्तिक निरूपण।
7. वस्तु व्यवस्था में अनेकान्त की आवश्यकता।
8. प्रमाणसप्तभंगी एवं नयसप्तभंगी का सम्यक् प्रतिपादन।
9. वस्तु की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता का तार्किक विश्लेषण।

आचार्य अकलंक ने अपने विलक्षण तर्ककौशल से सर्वत्र अनेकान्तवाद का साम्राज्य स्थापित कर जिनशासन की प्रभावना में विलक्षण कुशलता का परिचय दिया है। हमें उनके ग्रंथों का गहनता से अध्ययन कर तत्त्व-व्यवस्था को भली प्रकार से समझकर आत्मकल्याण की दिशा में अग्रसर होना चाहिए।

1. प्रो. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा लिखित अकलंकग्रन्थत्रय की प्रस्तावना, पृ. 92
2. श्री मद्भट्टाकलंकस्य पातु पुण्या सरस्वती,
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया
- आचार्य शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव, सर्ग, 1/17
3. पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री द्वारा लिखित न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना, पृ. 44
4. सदसन्नित्यानित्यादि सर्व शैकान्तप्रति क्षेपलक्षणोऽनेकान्त - अष्टशती, अष्टसहस्री, पृ. 286
5. तत्त्वार्थवार्तिकम् - हिन्दी भाषानुवादिका : आर्यिका श्री सुपाशर्वमती माताजी, पृ. 67-68
6. वही, पृ. 328
7. वही, भाग 1, पृ. 20-21
8. वही, पृ. 21
9. वही, पृ. 23
10. वही, 4/42, पृ. 703-705
11. वही, 4/42 705-707
12. वही, पृ. 707-708
13. वही, पृ. 708-709
14. वही, भाग 2, पृ. 221
15. अर्पितानर्पित सिद्धेक, तत्त्वार्थसूत्र 3/32
16. तत्त्वार्थवार्तिकम् - भाग 2, पृ. 222
17. वही, पृ. 710
18. वही, भाग-1, पृ. 96-97
19. वही, पृ. 97-98
20. वही, पृ. 98-99

सहायक आचार्य

जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म-दर्शन विभाग

जैन विश्वभारती, लाडनू (राज.)

आचार्य अकलंकदेव और उनका नय-विवेचन

— विद्यावाचस्पति डॉ. श्रीरंजनसूरिदेव

शास्त्रार्थकुशल आचार्य अकलंकदेव जैन न्याय-दर्शन के अगङ्गदत्त पण्डितों में पांकेय थे। उनकी परिगणना ईसा की सातवीं-आठवीं शती के युगप्रधान सारस्वताचार्यों में होती है। श्रवणबेलगोला के अभिलेख (सं. 47) के अनुसार वह षड्दर्शन और तर्कशास्त्र या न्यायविद्या में बृहस्पतिकल्प थे। बौद्ध आदि एकान्तवादियों को परास्त करना ही उनकी शास्त्र-रचना का मुख्य लक्ष्य था। उन्होंने दिग्विजयी शास्त्रार्थी और प्रखर तार्किक आचार्य समन्तभद्र (ईसा की द्वितीय शती) की शास्त्रार्थ-परम्परा को ततोऽधिक समृद्ध किया था। वे जैनन्याय के समानान्तर बौद्धन्याय के भी पारगामी विद्वान् थे।

आचार्य अकलंकदेव की जीवन-कथा विभिन्न जैनकथा-ग्रन्थों, प्रशस्तियों और अभिलेखों में सुरक्षित है। इनमें प्रभाचन्द्र (ईसा की ग्यारहवीं शती) का 'गद्यकथाकोष', ब्रह्मनेमिदत्त (विक्रम की सोलहवीं शती) का 'आराधनाकथाकोष' एवं देवचन्द्र (विक्रम की सोलहवीं शती) का कन्नड़-भाषा में लिखित कथा-ग्रन्थ 'राजावलिकथे' विशेष उल्लेख्य हैं, साथ ही 'मल्लिषण-प्रशस्ति' (ग्यारहवीं शती) और 'श्रवणबेलगोला-अभिलेख' का अकलंकदेव के प्रामाणिक जीवन-परिचय की दृष्टि से ऐतिहासिक और पुरातात्विक महत्त्व है। इन सब साक्ष्यों का समेकित अध्ययन आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्रीजी की ऐतिहासिक मूल्य की कृति 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' में सुलभ है। और फिर, अकलंक के प्रखर व्यक्तित्व और मुखर कृतित्व के व्यापक शास्त्रीय परिचय की दृष्टि से सिंघी जैनग्रन्थमाला में प्रकाशित 'अकलंक-ग्रन्थत्रयम्' की न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार शास्त्री द्वारा लिखित ग्रन्थोपम 'प्रस्तावना' अध्येतव्य है। यह आलेख इसी प्रस्तावना पर उपजीवित है।

उपरिवर्णित साक्ष्यों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि आचार्य अकलंकदेव की जन्मभूमि दक्षिण के राष्ट्रकूटवंशीय राजाओं की राजधानी मान्यखेट रही है। वे वहाँ के राजा शुभतुंग के राजनयज्ञ मन्त्री पुरुषोत्तम के ज्येष्ठ पुत्र थे। 'राजावलिकथे' के अनुसार अकलंकदेव कांची के जिनदास ब्राह्मण के पुत्र थे और उनकी माता का नाम जिनमती था। 'राजावलिकथे' में अकलंकदेव की जीवन-कथा के सन्दर्भ में एक मनोरंजक प्रसंग प्राप्य है—कांची के बौद्ध विद्वानों ने पल्लववंशीय कलिंगनरेश हिमशीतल की राजसभा में जैन विद्वानों से इस बात पर शास्त्रार्थ किया था कि पराजित होने पर सभी जैन शास्त्रार्थी कोल्हू में पेरवा दिये जायेंगे। वह शास्त्रार्थ सत्रह दिनों तक चला था। अकलंक को कूष्माण्डिनी देवी ने स्वप्न में दर्शन देकर कहा था कि तुम अपने प्रश्नों को सीधे न रखकर प्रकारान्तर से उपस्थित करने पर शास्त्रार्थजयी हो सकोगे। अकलंक ने वैसा ही किया और वह शास्त्रार्थ में विजयी हुए। बौद्धविद्वान् कलिंग से सिंहल चले गये। इस कथा-प्रसंग से जाहिर है कि समन्तभद्र की तरह अकलंकदेव भी दिग्विजयी शास्त्रार्थी पण्डित थे।

'मल्लिषेणप्रशस्ति' के दूसरे पद्य के अनुसार राष्ट्रकूटनरेश साहसतुंग की राजसभा में अकलंकदेव ने बौद्ध विद्वानों को उसी प्रकार परास्त किया, जिस प्रकार राजा हिमशीतल की राजसभा में किया था। इसीलिए उनके समकालीन आचार्य और 'अष्टसहस्री', जो अपनी दुरूहता के लिए 'कष्टसहस्री' के नाम से विख्यात है, के प्रसिद्ध टीकाकार विद्यानन्दजी ने उन्हें सकलतार्किकचक्रचूड़ामणि की पदवी से अलंकृत किया था।¹

आचार्य अकलंकदेव की चार मौलिक कृतियाँ और दो टीकाग्रन्थ हैं। उस समय के टीकाकार जो टीकाएँ लिखते थे, वे मौलिक ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित होती थीं। इसलिए, उन्हें 'टीकाग्रन्थ' कहा गया है। आज प्रायः मूलग्रन्थ के दुखबोध हो जाने के कारण टीकाग्रन्थ लिखने की परम्परा ही समाप्त हो गई है। अकलंकदेव की मौलिक कृतियाँ हैं—स्वोपज्ञवृत्ति-सहित 'लघीयस्त्रय', वृत्ति-सहित 'न्यायविनिश्चय', वृत्ति-सहित 'सिद्धिविनिश्चय' और वृत्ति-सहित 'प्रमाणसंग्रह'। टीकाग्रन्थ हैं—'तत्त्वार्थवार्तिक' (सभाष्य) और अष्टशती (देवागम विवृत्ति)। उक्त मौलिक ग्रन्थों में 'लघीयस्त्रय' का नाम सर्वप्रथम है। यह अकलंकदेव की सातिशय प्रौढ़ कृति है। इसके तीन छोटे-छोटे प्रकरण हैं—प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और निक्षेपप्रवेश या प्रवचनप्रवेश। प्रस्तुत आलेख में 'नयप्रवेश' को अधिकृत कर अकलंकदेव के नय-विवेचन का संक्षिप्त आकलन उपन्यस्त है।

'प्रवेश' शब्द से स्पष्ट है कि अकलंकदेव प्रबुद्ध पाठकों को प्रमाण, नय और प्रवचन का सामान्य परिचय देना चाहते हैं और इन तीनों का विषयवस्तु में उन पाठकों का प्रवेश कराना चाहते हैं। स्वीकृत विषय के पल्लवन के लिए अकलंक ने इन तीनों प्रवेशों या प्रकरणों को छह परिच्छेदों के रूप में रखा है। 'प्रमाणप्रवेश' के चार परिच्छेद हैं - प्रत्यक्षपरिच्छेद, विषयपरिच्छेद, परोक्षपरिच्छेद तथा आगमपरिच्छेद। इन चार परिच्छेदों के साथ 'नयप्रवेश' और 'प्रवचनप्रवेश' को मिलाकर कुल छह परिच्छेद 'लघीयस्त्रय' की स्वोपज्ञवृत्ति में हैं, जिनमें कुल अठहत्तर कारिकाएँ हैं। पंचम परिच्छेद के रूप में उपस्थापित 'नयप्रवेश' में केवल इक्कीस कारिकाएँ हैं। अतिलघु, यानी बहुत छोटे तीन प्रवेशों से समन्वित होने के कारण ही इस ग्रन्थ की 'लघीयस्त्रय' संज्ञा सार्थक है।

अकलंकदेव ने 'नयप्रवेश' में नय के साथ दुर्नय या नयाभास के लक्षण भी उपन्यस्त किये हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञाता का अभिप्राय ही नय है—'ज्ञातुरभिप्रायो नयः'² नय के दो मुख्य प्रकार हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। कुल नय सात हैं—नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय और एवम्भूतनय।

भगवान् महावीर ने मनोगत या मानसी अहिंसा की पूर्णता के लिए अनेकान्त दृष्टि के सिद्धान्त की स्थापना की थी और विभिन्न वादों या मतों के समीकरण के विचार से उस सिद्धान्त के क्रियान्वयन की पद्धति की भी खोज की थी। अनेकान्तदृष्टि के क्रियान्वयन के लिए उन्होंने कतिपय सामान्य नियम बनाये थे, जिन्हें 'नय' नाम से अभिहित किया था। मानव-जीवन में सामान्य विचार-व्यवहार तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञानाश्रयी, अर्थाश्रयी और शब्दाश्रयी। महावीर के समय जितने मतवाद प्रचलित थे, उनमें अद्वैत वेदान्तवादी केवल 'ज्ञान' को मूल्य देते थे, क्षणिकवादी बौद्ध केवल 'अर्थ' को महत्व देते थे, न्यायवादी तथा वैशेषिक मत के लोग केवल 'शब्द' की महत्ता को स्वीकार करते थे। किन्तु, महावीर ने ज्ञान, शब्द और अर्थ के आश्रित विचारों में समन्वयन के लिए स्थूल और मौलिक नियम स्थिर किये थे, उन्हीं नियमों को 'नय' की संज्ञा दी गई थी।

परन्तु, उक्त समन्वयन की क्रिया एक खास शर्त पर की गई थी—कोई भी दृष्टि अपने प्रतिपक्षी की दृष्टि का निराकरण नहीं कर सकेगी। भले ही, एक अभेददृष्टि की मुख्यता होने पर दूसरी भेददृष्टि गौण हो जाए। यही सापेक्षता नय का मूलतत्त्व है। सापेक्षता के अभाव में नयदृष्टि दुर्नय बन जाती है। अकलंकदेव ने इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है—

भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः।

ये तेऽपेक्षान पेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः॥ 1 ॥ (नयप्रवेश)

इसी प्रसंग को उन्होंने 'लघीयस्त्रय' की बयालीसवीं कारिका (नयप्रवेश-13) की स्वोपज्ञवृत्ति में ततोऽधिक स्पष्ट किया है: "प्रमाणान्तराबाधनं पूर्वापराऽविरोधश्चाऽविसंवादः। तदपेक्षोऽयं नयः। ततोऽन्यथा दुर्नयः।" इसे ही प्रकारान्तर से कहा गया है: 'सापेक्षो नयः। निरपेक्षो दुर्नयः।'

सापेक्ष दृष्टि अभेददृष्टि है और निरपेक्षदृष्टि भेददृष्टि। इन दृष्टियों का आधार चाहे ज्ञान हो या अर्थ या शब्द हो। परन्तु, इनकी कल्पना अभेददृष्टि या भेददृष्टि इन दो रूपों में ही की जा सकती है। इन्हें ही द्रव्यनय और पर्यायनय नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। द्रव्यार्थिक नय यदि अभेदग्राही है तो पर्यायार्थिक नय भेदग्राही। ये ही दो मूल नय हैं और समस्त विचारों और व्यवहारों का आधार भी ये ही दोनों नय हैं। उपर्युक्त नैगमसंग्रह आदि सात नय तो इन्हीं की शाखा-प्रशाखाएँ हैं। जैसा पहले कहा गया है, किसी एक धर्म को मुख्य और उससे इतर धर्मों को गौण रूप से प्रस्तुत करनेवाले ज्ञाता का अभिप्राय ही नय है। जब वही अभिप्राय इतर धर्मों को अनेकान्तदृष्टि से गौण करने की अपेक्षा एकान्तदृष्टि से उनका निराकरण या निरसन करने लगता है, तब वह दुर्नय हो जाता है।

अकलंकदेव ने नैगमनय को अर्थ की परिधि में लाकर उसका लक्षण इस प्रकार किया है—

अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात् ।

नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इष्यते ॥ 10 ॥ (नयप्रवेश)

अर्थात्, नैगमनय गुण-गुणी या धर्म-धर्मी में किसी एक को गौणता से तथा दूसरे को मुख्यता से ग्रहण करता है, जैसे जीव के स्वरूप-निरूपण में उसके ज्ञान आदि गुण गौण हो जाते हैं और ज्ञान आदि गुणों के वर्णन में जीव गौण हो जाता है। परन्तु, गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान तथा सामान्य-विशेष में सर्वथा भेद मानना नैगमनयाभास है।

संग्रहनय के सन्दर्भ में अकलंकदेव कहते हैं कि बौद्ध सर्वथा भेदात्मक स्वलक्षण का जैसा वर्णन करते हैं, वैसा क्षणिक पदार्थ न तो किसी ज्ञान का विषय ही हो सकता है, न ही वह किसी अर्थक्रिया में सक्षम हो सकता है। क्षणिक पदार्थ में कार्यकारण भाव के अभाव से जब अर्थक्रिया ही नहीं बनती, तब उसकी सत्ता की आशा करना मृगमरीचिका के पीछे दौड़ने के समान है।

अकलंकदेव के मतानुसार, संग्रहनय अभेददृष्टि से पदार्थों का संग्रह करनेवाला है। इस नय में शुद्ध सन्मात्र विषय होने पर भी भेद का निराकरण नहीं है, किन्तु भेद अवश्य ही गौण हो जाता है। भेद का निराकरण करने पर संग्रहनय संग्रहनयाभास हो जाता है। इस सन्दर्भ में अकलंक की, बौद्धों के क्षणिक एकान्त के निरसन से सम्बद्ध मूल कारिकाएँ इस प्रकार हैं—

लक्षणं क्षणिकैकान्ते नार्थस्यार्थक्रिया सति ।

कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणलक्षणम् ॥ 6 ॥

कार्योत्पत्तिर्विरुद्धा चेत् स्वयं कारणसत्तया ।

युज्येत क्षणिकेऽर्थेऽर्थक्रिया सम्भवसाधनम् ॥ 7 ॥

सङ्ग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना ।

ब्रह्मवादस्तदा भासः स्वार्थभेद निराकृतेः ॥ 9 ॥ (नयप्रवेश)

संग्रहनय के द्वारा गृहीत अर्थ में विधिपूर्वक अविश्वस्यवादी वस्तुस्थितिमूलक भेद करनेवाला नय व्यवहारनय है। यह नय लोकप्रसिद्ध व्यवहार का अविरोधी होता है। जिस अभेद व्यवहार में भेद की अपेक्षा रहती है वह व्यवहारनय की परिधि में आता है, किन्तु अभेद के निराकरण की स्थिति में वह व्यवहारनयाभास हो जाता है। इस सन्दर्भ में आचार्य अकलंकदेव की मूल कारिका है —

व्यवहाराविश्वस्यवादी नयः स्याद् दुर्नयोऽन्यथा ।

बहिरर्थोऽस्ति विज्ञप्तिमात्रं शून्यमितीदृशः ॥ 13 ॥ (नयप्रवेश)

इस कारिका की स्वोपज्ञवृत्ति में अकलंकदेव ने स्पष्ट किया है कि लोक-व्यवहार अर्थ, शब्द तथा ज्ञान से संचालित होता है। जैसे जीव-व्यवहार, जीव अर्थ, जीव शब्द तथा जीवविषयक ज्ञान, इन तीनों प्रकारों से हो सकता है। 'वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है', 'द्रव्य गुण-पर्यायात्मक है', 'जीव चैतन्यरूप है' इत्यादि वाक्य, प्रमाण से अविरोधी होने तथा लोक-व्यवहार में

अविसंवादी होने के कारण प्रमाण हैं और पूर्वापर-विरोधी न होने के कारण सद्-व्यवहार के विषय हैं। प्रमाणविरुद्ध कल्पनाएँ व्यवहारनयाभास हैं, जैसे सौत्रान्तिक का एकान्त-रूप से जड़-चेतन सभी पदार्थों को क्षणिक, निरंश और परमाणु-रूप मानना, योगाचार का क्षणिक अविभागी और विज्ञानाद्वैत मानना या फिर माध्यमिकों का सर्वशून्यता स्वीकार करना। ये सब व्यवहाराभास, प्रमाणविरोधी तथा लोक-व्यवहार में विसंवादी हैं।

ऋजुसूत्रनय में भेद का महत्त्व अवश्य है, पर अभेद का प्रतिक्षेप नहीं है। अभेद का प्रतिक्षेप होने पर ऋजुसूत्रनय बौद्धों के क्षणिक तत्त्व की तरह ऋजुसूत्रनयाभास हो जायेगा। ऋजुसूत्रनय पदार्थ के एक क्षणरूप शुद्ध वर्तमानकालवर्ती अर्थ-पर्याय को मूल्य देता है। इस नय की दृष्टि से अभेद कोई वास्तविक नहीं, प्रातिभासिक है। चित्रज्ञान भी एक न होकर अनेक ज्ञानों का समूह है। इसी तत्त्व को अकलंकदेव ने अपनी भाष्यगर्भ कारिका में इस प्रकार समेटा है—

ऋजुसूत्रस्य पर्यायः प्रधानं चित्रसंविदः।

चेतनाणुसमूहत्वात् स्यादभेदानुपलक्षणम् ॥ 14 ॥ (नयप्रवेश)

शब्दनय काल, कारक, लिंग तथा संख्या के भेद से शब्द की भिन्नता द्वारा भिन्न अर्थों को ग्रहण करता है। भिन्न काल, भिन्न कारक, भिन्न लिंग तथा भिन्न संख्यावाले शब्द एक अर्थ के वाचक नहीं हो सकते। शब्दनय की दृष्टि से भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल, एकवचन, द्विवचन और बहुवचनान्त कारक, स्त्री, पुरुष और नपुंसकलिंग एवं एक, दो और तीन संख्याएँ भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक हैं। शब्दभेद से अर्थभेद होना आवश्यक है। काल, कारक आदि के भेद से एक ही द्रव्य के अनेक पर्याय हो सकते हैं। इसलिए उक्तविध ये समस्त भेद एकान्तात्मक नहीं हो सकते। इस प्रकार, काल आदि के भेद से अर्थभेद की स्थिति में शब्दनय उनमें विभिन्न शब्दों का प्रयोग अपेक्षित मानता है। शब्दभेद होने पर अर्थभेद न मानना शब्दनयाभास है।

समभिरूढनय प्रत्येक पर्यायवाची शब्दों के द्वारा अर्थ में भेद स्वीकार करता है। एक काल, एक लिंग और एक संख्या के शब्द अनेक पर्यायवाची हो सकते हैं। जैसे एक लिंगवाले 'इन्द्र' 'शक्र' और 'पुरन्दर' ये तीन शब्द प्रवृत्तिनिमित्तक भिन्नता के कारण भिन्नार्थवाचक हैं। 'इन्द्र' से इन्दन या आनन्दन की क्रिया, 'शक्र' शब्द से शासन-क्रिया और 'पुरन्दर' शब्द से पुर के विदारण की क्रिया का बोध होता है। अतः तीनों शब्द विभिन्न स्थितियों के वाचक हैं। शब्दनय में एकलिंगात्मक पर्यायवाची शब्दों में अर्थभेद नहीं था, परन्तु समभिरूढनय में विभिन्न प्रवृत्ति-निमित्त होने से एकलिंगात्मक पर्यायवाची शब्दों में भी अर्थभेद अनिवार्य है। पर्यायवाची शब्दों में अर्थभेद की स्थिति होने पर भी अर्थभेद न मानना समभिरूढनयाभास है।

एवम्भूतनय क्रिया के भेद से अर्थभेद स्वीकार करता है। जैसे—'इन्द्र' जब इन्दन-क्रिया कर रहा हो, तब उसे 'इन्द्र' कहा जायेगा, दूसरे समय में नहीं। यह नय क्रिया की विद्यमानता में ही उस क्रिया से निष्पन्न शब्द के प्रयोग को साधु मानता है। इस नय की दृष्टि से, कार्य करने की स्थिति में ही 'कारक' कहा जायेगा और कार्य न करनेकी स्थिति में 'कारक' शब्द असार्थक होगा। क्रियाभेद होने की स्थिति में भी अर्थभेद न मानना एवम्भूतनयाभास है।

आचार्य अकलंकदेव ने उक्त तीनों नयों का एक ही कारिका में उपसमाहार करते हुए लिखा है—

कालकारकलिङ्गानां भेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत्।

अभिरूढस्तु पर्यायैरित्थम्भूतः क्रियाश्रयः ॥ 15 ॥ (नयप्रवेश)

इस प्रकार, आचार्य अकलंकदेव ने उपरिविवेचित सातों नयों में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं अल्पविषयता को लक्ष्य किया है। नैगमनय संकल्पग्राही है, तो संग्रहनय सन्मात्रग्राही। अर्थात्, नैगमनय सत्-असत् दोनों पक्षों को ग्रहण करता है, तो संग्रहनय केवल सत्पक्ष को। और फिर, सद्विशेष को ग्रहण करने के कारण व्यवहारनय संग्रहनय से भी सूक्ष्म है। त्रिकालात्मक सद्विशेष को ग्रहण करने के कारण ऋजुसूत्रनय व्यवहारनय से भी सूक्ष्म है। शब्द-भेद होने पर भी अभिन्नार्थग्राही ऋजुसूत्र से काल, कारक आदि के भेद से शब्दभेद मानकर भिन्न अर्थ ग्रहण करने वाला शब्दनय सूक्ष्मतर है। पर्याय भेद होने पर भी अभिन्न अर्थ ग्रहण करनेवाले शब्दनय से, पर्यायवाची शब्दों के भेद से अर्थभेद ग्रहण करने के कारण समभिरूढनय शब्दनय से सूक्ष्मतर और अल्पविषयी है। क्रियाभेद से अर्थभेद नहीं माननेवाले समभिरूढनय से क्रियाभेद की स्थिति में अर्थभेद माननेवाला एवम्भूतनय ततोऽधिक सूक्ष्म और अल्पविषयी होता है।

अन्त में, निष्कर्ष रूप में अकलंकदेव ने कहा है कि ये सातों नय परस्पर सूक्ष्म भेदयुक्त होने पर भी विधि और प्रतिषेध द्वारा सम्यक् अर्थ की अभिव्यक्ति की दृष्टि से अनेकान्तात्मक हैं। मूल कारिका इस प्रकार है—

कालादिलक्षणं न्यक्षेणान्यत्रेक्ष्यं परीक्षितम्।

द्वय-पर्याय-सामान्य-विशेषात्पार्थ निष्ठितम् ॥ 18 ॥ (नयप्रवेश)

नय प्रमाण नहीं है, पर प्रमाण के समीपी है। नय विकलादेशी होता है और प्रमाण सकलादेशी। विकलादेश में धर्मवाचक शब्द के साथ 'एव' का प्रयोग होता है और सकलादेश में धर्मवाचक शब्द के साथ। उदाहरणार्थ 'स्याज्जीव एव' ऐसा प्रयोग अनन्तधर्मात्मक जीव की समग्रता या अखण्डरूपता का बोधक है, अतएव यह सकलादेशात्मक प्रमाणवाक्य है। किन्तु 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्य में मुख्यतः जीव के अस्तित्वधर्म का कथन किया गया है। अतः यह विकलादेशात्मक नयवाक्य है। अकलंकदेव ने भी लिखा है—

उपयोगोऽश्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ।

स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकल सङ्गथा ॥ 62 ॥ (प्रवचनप्रवेश)

कहना न होगा कि विभिन्न जैन चिन्तकों ने विभिन्न पद्धतियों से नयविषयक अपने विचार व्यक्त किये हैं, किन्तु सबकी केन्द्रीय भावचेतना एक ही है।

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री, खण्ड-2, पृष्ठ 304
2. लघोयस्त्रय के अन्तर्गत नयप्रवेश की कारिका 1 की वृत्ति, अकलंकदेव

भिखना पहाड़ी

पी.एन. सिन्हा कॉलोनी, पटना - 800006

अकलंकदेव की कृति तत्त्वार्थवार्तिक

— डॉ. रमेशचन्द्र जैन

जैनागमों की मूलभाषा प्राकृत रही है। संस्कृत में सर्वप्रथम जैन रचना होने का श्रेय गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्र को है। तत्त्वार्थसूत्र सूत्र-शैली में लिखा गया है। सूत्र-रूप में ग्रथित इस ग्रन्थ में जैन तत्त्वज्ञान का सागर भरा हुआ है। लघुकाय सूत्रग्रन्थ होने पर भी यह 'गागर में सागर' भरे जाने की उक्ति को चरितार्थ करता है। यही कारण है कि जैनधर्म की दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में यह मान्य है। इस सूत्रग्रन्थ का मुख्य नाम 'तत्त्वार्थ' है। इस नाम का उल्लेख टीकाकारों ने किया है, जिनमें आचार्य पूज्यपाद, अकलंकदेव और विद्यानन्द प्रमुख हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्वार्थ हैं। इन्हीं सात तत्त्वार्थों का तत्त्वार्थसूत्र में विवेचन है। ग्रन्थ की महत्ता को देखते हुए इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। दिगम्बर परम्परा में इस पर सबसे प्राचीन टीका आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि कृत 'सर्वार्थसिद्धि' प्राप्त होती है। यद्यपि सर्वार्थसिद्धि में कुछ प्रमाण ऐसे हैं जिनसे पता चलता है कि इससे पूर्व भी कुछ टीकाएँ लिखी गई थीं जो आज अनुपलब्ध हैं। श्वेताम्बर परम्परा में इस पर 'तत्त्वार्थाधिगम भाष्य' प्राप्त होता है, जो स्वोपज्ञ कहा जाता है। किन्तु इसके स्वोपज्ञ होने में विद्वानों ने सन्देह व्यक्त किया है।¹ सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थसूत्र का जो पाठ निर्धारित किया है, दिगम्बर परम्परा के सभी विद्वान् आचार्यों ने उसका अनुसरण किया है। सर्वार्थसिद्धि को ही दृष्टि में रखते हुए उस पर भट्ट अकलंकदेव ने 'तत्त्वार्थवार्तिक' और आचार्य विद्यानन्द ने

‘तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक’ जैसी प्रौढ़ और गहन तत्वज्ञान से ओत-प्रोत अनेक टीकाएँ लिखी हैं। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के जोड़ की टीकाएँ नहीं मिलती हैं, यद्यपि संख्या की दृष्टि से अनेक टीकाएँ प्राप्त हैं। समकालीन या परवर्ती समस्त टीकाएँ इन टीकाग्रन्थों से प्रभावित हैं। प्रस्तुत लेख का प्रतिपाद्य ‘तत्त्वार्थवार्तिक’ ही है।

तत्त्वार्थवार्तिक तत्त्वार्थसूत्र पर अकलंकदेव द्वारा अतिगहन, प्रखर दार्शनिकता और प्रौढ़ शैली में लिखी गई कृति है। इसे ‘तत्त्वार्थराजवार्तिक’ अथवा ‘राजवार्तिक’ के नाम से भी जाना जाता है। वार्तिककार अकलंकदेव ने सर्वार्थसिद्धि का अनुसरण करने के साथ-साथ उसकी अधिकांश पंक्तियों को अपनी वार्तिक बना लिया है। वार्तिक के साथ उसकी व्याख्या भी है। चूँकि तत्त्वार्थसूत्र में दस अध्याय हैं, अतः तत्त्वार्थवार्तिक में भी दस ही अध्याय हैं, किन्तु उद्योत करके न्यायवार्तिक की तरह प्रत्येक अध्याय को आह्निकों में विभक्त कर दिया गया है। इससे पहले जैन साहित्य में अध्याय के आह्निकों में विभाजन करने की पद्धति नहीं पाई जाती। अकलंकदेव द्वारा तत्त्वार्थवार्तिक में दिये गये वार्तिक प्रायः सरल और संक्षिप्त हैं, किन्तु उनका व्याख्यान जटिल है। इस ग्रन्थ में भट्ट अकलंकदेव के दार्शनिक, सैद्धान्तिक और वैयाकरण तीन रूप उपलब्ध होते हैं।²

दार्शनिक वैशिष्ट्य - तत्त्वार्थवार्तिक के अध्ययन से यह बात स्पष्ट पता चलती है कि इसके रचनाकार भट्ट अकलंकदेव विभिन्न भारतीय दर्शनों के तलस्पर्शी अध्येता थे। उन्होंने विभिन्न दर्शनों के मन्तव्यों की समीक्षा कर अनेकान्तिक पद्धति से समाधान करने की परम्परा को विकसित किया। उनका वाङ्मय गहन है। विद्वान् भी उसका विवेचन करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। उनके विषय में वादिराज सूरि ने कहा है -

**भूयोभेदनयावगाहगहनं देवस्य यदवाङ्मयम्।
कस्यद्विस्तरतो विविच्य वदितुं मन्दः प्रभुर्मादृशः॥**

अर्थात् - अकलंकदेव की वाणी अनेक भङ्ग और नयों से व्याप्त होने के कारण अतिगहन है। मेरे समान अल्पज्ञ प्राणी उनका विस्तार से कथन और वह भी विवेचनात्मक कैसे कर सकता है।

तत्त्वार्थवार्तिक में न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, सांख्य, मीमांसा तथा चार्वाक मतों की समीक्षा प्राप्त होती है। इसमें न्याय, वैशेषिक और बौद्धदर्शन की समीक्षा अनेक स्थलों पर की गई है। अकलंकदेव का उद्देश्य इन दर्शनों की समीक्षा के साथ-साथ इनके प्रहारों से जैन तत्वज्ञान की रक्षा करना भी रहा है। इसमें वे पर्याप्त सफल भी हुए हैं। उन्होंने जैन न्याय की ऐसी शैली को जन्म दिया, जिसके प्रति बहुमान रखने के कारण परवर्ती जैन ग्रन्थकार इसको ‘अकलंक-न्याय’ के नाम से अभिहित करते हैं। उनकी शैली को परवर्ती जैन न्याय ग्रन्थकारों ने, चाहे वे दिगम्बर परम्परा के रहे हों या श्वेताम्बर परम्परा के, खूब अपनाया। इस रूप में आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन के बाद जैन न्याय के क्षेत्र में उनका नाम बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। यहाँ हम उनके द्वारा की गई विभिन्न दर्शनों की समीक्षा पर प्रकाश डालते हैं।

वैशेषिक दर्शन-समीक्षा - तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में सांख्य, वैशेषिक और बौद्धों के मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया गया है। वैशेषिक आत्मा के बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और संस्कार रूप नव विशेष गुणों के अत्यन्त उच्छेद को मोक्ष कहते हैं। ऐसा मानते हुए भी कर्मबन्धन के विनाशरूप मोक्ष के सामान्य लक्षण में किसी को विवाद नहीं है।³

वैशेषिक के मत से द्रव्य, गुण और सामान्य पदार्थ पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र हैं, इसलिए उनके मत में उष्ण गुण के योग से अग्नि उष्ण है - ऐसा कहा जा सकता है, स्वयं अग्नि उष्ण नहीं हो सकती। अयुतसिद्धलक्षण समवाय यह इसमें है, इस प्रकार की बुद्धि प्रवृत्ति का कारण होता है, इसलिए गुण-गुणी में अभेद का व्यपदेश होता है और इस समवाय सम्बन्ध के कारण ही उष्णत्व के समवाय से गुण में उष्णता तथा उष्ण गुण के समवाय से अग्नि उष्ण हो जाती है।⁴

इसके उत्तर में अकलंकदेव ने कहा है कि ऐसा नहीं है, स्वतंत्र पदार्थों में समवाय के नियम का अभाव है। यदि उष्ण गुण एवम् अग्नि परस्पर भिन्न हैं तो ऐसा कौन-सा प्रतिविशिष्ट नियम है कि उष्ण गुण का समवाय अग्नि में ही होता है, शीत गुण में नहीं। उष्णत्व का समवाय उष्ण गुण में ही होता है - शीत गुण में नहीं, इस प्रकार का प्रतिनियम दृष्टिगोचर नहीं होता।⁵

इसके अतिरिक्त समवाय के खण्डन में अनेक युक्तियाँ दी गई हैं -

1. वृत्त्यन्तर का अभाव होने से समवाय का अभाव है।⁶

2. समवाय प्राप्ति है, इसलिए उसमें अन्य प्राप्तिमान का अभाव है, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के कथन में व्यभिचार आता है।⁷

दीपक के समान समवाय स्व और पर इन दोनों का सम्बन्ध करा देगा, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, ऐसा मानने पर समवाय में परिणामित्व होने से अनन्यत्व की सिद्धि होगी।⁸

इन सब कारणों से गुणादि को द्रव्य की पर्यायविशेष मानना युक्तिसंगत है।

वैशेषिक मानते हैं कि इच्छा और द्वेष से बन्ध होता है। इच्छा-द्वेषपूर्वक धर्म और अधर्म में प्रवृत्ति होती है। धर्म से सुख और अधर्म से दुःख होता है तथा सुख-दुःख से इच्छा-द्वेष होते हैं। विमोही के इच्छा-द्वेष नहीं होते, क्योंकि तत्त्वज्ञ के मिथ्यादर्शन का अभाव है। मोह ही अज्ञान है। विमोही षट्पदार्थ तत्व के ज्ञाता वैरागी यति के सुख-दुःख, इच्छा और द्वेष का अभाव है। इच्छा-द्वेष के अभाव से धर्म, अधर्म का भी अभाव हो जाता है। धर्म-अधर्म के अभाव में नूतन शरीर और मन के संयोग का अभाव हो जाता है। शरीर और मन के संयोग के अभाव में जन्म नहीं होता, वह मोक्ष है।⁹ इस प्रकार अज्ञान से बन्ध होता है, यह वैशेषिक भी मानता है।

अकलंकदेव के अनुसार वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। इसे वे वैशेषिक में भी घटित करते हैं। वैशेषिक पृथिवीत्व आदि सामान्य-विशेष स्वीकार करते हैं। एक ही पृथिवीत्व स्व-व्यक्तियों में अनुगत होने से सामान्यात्मक होकर भी जलादि से व्यावृत्ति कराने का कारण होने से विशेष कहलाता है। इस प्रकार एक ही वस्तु में सामान्य-विशेषात्मक स्वीकार करनेवाले वैशेषिक सिद्धान्त में भी एक वस्तु के उभयात्मक मानने में विरोध नहीं आता।¹⁰

प्रथम अध्याय के दसवें सूत्र की व्याख्या में ज्ञाता और प्रमाण भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा माननेवाले वैशेषिक के अज्ञत्व दोष आता है, इसका विवेचन किया है। यदि ज्ञान से आत्मा पृथक् है तो आत्मा के घट के समान अज्ञत्व का प्रसङ्ग आएगा। ज्ञान के योग से ज्ञानी होता है, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जो स्वयं अज्ञानी है वह ज्ञान के संयोग से ज्ञानी नहीं हो सकता। जैसे जन्म से अन्धा दीपक का संयोग होने पर भी दृष्टा नहीं बन सकता, इसी प्रकार अज्ञ आत्मा भी ज्ञान के संयोग से ज्ञाता नहीं हो सकता।¹¹

प्रथम अध्याय के बत्तीसवें सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि वैशेषिकों का मत है कि प्रतिनियत (भिन्न-भिन्न) पृथ्वी आदि जाति विशिष्ट परमाणु से अदृष्टादि हेतु के सन्निधान होने पर एकत्रित होकर अर्थान्तरभूत घटादि कार्यरूप आत्मलाभ होता है, यह कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वैशेषिक के अनुसार परमाणु नित्य है, अतः उसमें कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति का अभाव है।¹²

इसी प्रकार प्रथम अध्याय के पहले मंगलाचरण में मोक्ष के कारणों के विषय में विभिन्न वादियों के मतों का कथन करते हुए न्यायदर्शन की मान्यता की ओर संकेत किया गया है कि वे मानते हैं कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है।¹³ तत्वज्ञान से सभी के उत्तर (मिथ्याज्ञान) की निवृत्ति हो जाने पर उसके अनन्तर अर्थ है, उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। मिथ्याज्ञान के अनन्तर क्या है? दोष है, क्योंकि दोष मिथ्याज्ञान का कार्य है। दोष कार्य होने से दोष के अनन्तर प्रवृत्ति है, क्योंकि दोष के अभाव में प्रवृत्ति का अभाव है। प्रवृत्ति के उत्तर जन्म है, प्रवृत्ति का कार्य होने से। प्रवृत्तिरूप कारण के अभाव में जन्मरूप कार्य का भी अभाव हो जाता है। जन्म के उत्तर दुःख है, इसलिए जन्म के अभाव में दुःख का भी नाश हो जाता है। अतः कारण की निवृत्ति होने पर कार्य की निवृत्ति होना स्वाभाविक है। आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति होना ही मोक्ष है, क्योंकि सुख-दुःख का अनुपयोग ही मोक्ष कहलाता है।¹⁴

जैनदर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की समग्रता के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जैसे रसायन के ज्ञानमात्र से रसायनफल अर्थात् रोगनिवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें रसायन श्रद्धान और रसायनक्रिया का अभाव है। पूर्ण फल की प्राप्ति के लिए रसायन का विश्वास, ज्ञान और उसका सेवन आवश्यक है। उसी प्रकार दर्शन और चारित्र के अभाव में ज्ञानमात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।¹⁵

नैयायिक मानते हैं कि शब्द आकाश का गुण है, वह वायु के अभिघात आदि बाह्य कारणों से उत्पन्न होता है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष है, गुण है, अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता, निराधार गुण नहीं रह सकते, अतः शब्द अपने आधारभूत गुणी आकाश का अनुमान करता है, ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि पौद्गलिक होने से पुद्गल का विकार ही शब्द है, आकाश का गुण नहीं है।¹⁶

पाँचवें अध्याय के 25वें सूत्र की व्याख्या में यह सिद्ध किया गया है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु स्कन्ध के ही भेद हैं तथा स्पर्श, रस, शब्द आदि स्कन्ध की पर्यायें हैं। इससे नैयायिक के इस सिद्धान्त का खण्डन किया गया है कि पृथ्वी में चार गुण, जल में गन्धरहित तीन गुण, अग्नि में गन्ध और रस रहित दो गुण तथा वायु में केवल स्पर्श गुण है। ये सब पृथिव्यादि जातियाँ भिन्न-भिन्न हैं।¹⁷

सल्लेखना के प्रसङ्ग में कहा गया है कि जो वादी (नैयायिक) आत्मा को निष्क्रिय कहते हैं, यदि उनके पुनः साधुजन सेवित सल्लेखना करनेवाले के लिए आत्मवध दूषण है तो ऐसा कहनेवाले के आत्मा को निष्क्रिय मानने की प्रतिज्ञा खण्डित हो जाती है। निष्क्रियत्व स्वीकार करने पर आत्मवध की प्राप्ति नहीं हो सकती।¹⁸

दान के प्रसङ्ग में कहा गया है कि आत्मा में नित्यत्व, अज्ञत्व और निष्क्रियत्व मानने पर दानविधि नहीं बन सकती। जिनके सिद्धान्त में सत्स्वरूप आत्मा अकारण होने से कूटस्थनित्य है और ज्ञानादि गुणों से भिन्न होने से (अर्थान्तरभूत होने से) आत्मा अज्ञ है और सर्वगत होने से निष्क्रिय है, उनके भी विधिविशेष आदि से फलविशेष की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसी आत्मा में कोई विकार-परिवर्तन की सम्भावना नहीं है।¹⁹

पाँचवें अध्याय के दूसरे सूत्र की व्याख्या में नैयायिकों के 'द्रव्यत्व योगाद्द्रव्य' की विस्तृत समीक्षा की गई है।

चार्वाक दर्शन-समीक्षा - पाँचवें अध्याय के 22वें सूत्र में शरीरादि को पुद्गल का उपकार कहा है। उक्त प्रसंग में कहा गया है - तन्त्रान्तरीया जीवं परिभाषन्ते, तत्त्वार्थ इति²⁰ अर्थात् अन्य वादी (चार्वाकादि) जीव को पुद्गल कहते हैं, वह कैसे? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्र कहा गया है कि स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले पुद्गल हैं।

मीमांसा दर्शन-समीक्षा - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की एकता से मोक्ष होता है, इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के प्रसंग में अन्य मतों की समीक्षा के साथ मीमांसा के इस सिद्धान्त की भी समीक्षा की गई है कि क्रिया से ही मोक्ष होता है।²¹

प्रथम अध्याय के बारहवें सूत्र की व्याख्या में प्रत्यक्ष के लक्षण के प्रसंग में बौद्ध, वैशेषिक और सांख्य की समीक्षा के साथ मीमांसकों के इस मत की समीक्षा की गई है कि इन्द्रियों का सम्प्रयोग होने पर पुरुष के उत्पन्न होनेवाली बुद्धि प्रत्यक्ष है।²² मीमांसकों के इस मत को स्वीकार किया जाएगा अर्थात् इन्द्रियनिमित्त से होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष माना जाएगा तो आप्त को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता।²³

पाँचवें अध्याय के सत्रहवें सूत्र में कहा गया है कि अपूर्व नामक धर्म (पुण्य-पाप) क्रिया से अभिव्यक्त होकर अमूर्त होते हुए भी पुरुष का उपकारी है अर्थात् पुरुष के उपभोग साधनों में निमित्त होता ही है, उसी प्रकार अमूर्त धर्म और अधर्म द्रव्य को भी जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति में उपकारक समझना चाहिए।²⁴

पाँचवें अध्याय के 24वें सूत्र की व्याख्या में स्फोटवादी मीमांसकों के विषय में कहा गया है कि वे मानते हैं कि ध्वनियाँ क्षणिक हैं। वे क्रम से उत्पन्न होती हैं और अनन्तर क्षण में विनष्ट हो जाती हैं। अतः उन ध्वनियों से अभिव्यक्त होनेवाला, अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ, अमूर्त, नित्य, अतीन्द्रिय, निरवयव और निष्क्रिय शब्दस्फोट मानना उचित नहीं, क्योंकि ध्वनि और स्फोट में व्यंग्य-व्यञ्जक भाव नहीं है।²⁵

सांख्य दर्शन-समीक्षा - प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में विभिन्न वादियों की मोक्ष की परिभाषा के साथ सांख्य दर्शन की मान्यता की ओर भी निर्देश किया गया है। सांख्य यद्यपि प्रकृति और पुरुष का भेद-विज्ञान होने पर स्वप्न में लुप्त हुए विज्ञान के समान अनभिव्यक्त चैतन्यस्वरूप अवस्था को मोक्ष मानता है,²⁶ तथापि कर्मबन्धन के विनाशरूप मोक्ष के सामान्य लक्षण में किसी को विवाद नहीं है।²⁷

प्रथम अध्याय में आकाश के प्रदेशों की अनन्तता के विषय में आपत्ति होने पर बौद्ध और वैशेषिक द्वारा अनन्त को मान्यता दिये जाने का उल्लेख करते हुए सांख्य सिद्धान्त के विषय में कहा गया है कि सांख्य सिद्धान्त में सर्वगत होने से प्रकृति और पुरुष के अनन्तता कही गई है।²⁸

जैनधर्म में धर्म और अधर्म द्रव्य को गति और स्थिति में साधारण कारण माना है। यदि ऐसा न मानकर आकाश को सर्वकार्य करने में समर्थ माना जायेगा तो वैशेषिक, बौद्ध और सांख्य सिद्धान्त से विरोध आएगा। उदाहरणार्थ सांख्य सत्व, रज और तम ये तीन गुण मानते हैं। सत्व गुण का प्रसाद और लाघव, रजोगुण का शोध और ताप तथा तमोगुण का आवरण और सादनरूप भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं। यदि व्यापित्व होने से आकाश को ही गति एवं स्थिति में उपग्रह (निमित्त) मानते हैं तो व्यापित्व होने से सत्व को ही शोषतापादि रजोगुणधर्म और सादन आवरण आदि तपोधर्म मान लेना चाहिए। रज, तम गुण मानना निरर्थक है तथा और भी प्रतिपक्षी धर्म हैं, उनको एक मानने से संकर दोष आयेगा। उसी प्रकार सभी आत्माओं में एक चैतन्यरूपता और आदान-अभोगता समान है, अतः एक ही आत्मा मानना चाहिए, अनन्त नहीं अर्थात् आत्मा में भी चैतन्य भोक्तृ आदि समान होने से सर्व आत्मा में एकत्व का प्रसङ्ग आएगा।²⁹

पाँचवें अध्याय के सत्रहवें सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि जैसे अमूर्त भी प्रधान पुरुषार्थ प्रवृत्ति से महान् अहंकार आदि विकाररूप से परिणत होकर पुरुष का उपकार करता है, उसीप्रकार अमूर्त धर्म और अधर्म द्रव्य को भी जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति में उपकारक समझना चाहिए।³⁰

सांख्य का आकाश को प्रधान का विकार मानना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा की तरह प्रधान के भी विकाररूप परिणमन नहीं हो सकता।

प्रश्न : सत्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्य अवस्था ही प्रधान है, उस प्रधान में उत्पादक स्वभावता है। उस प्रधान के विकार महान्, अहंकार आदि हैं तथा आकाश भी प्रधान का एक विकार है।

उत्तर : यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि प्रधान परमात्मा के समान नित्य, निष्क्रिय, अनन्त आदि अविशेषण से परमात्मा का आविर्भाव और तिरोभाव नहीं होने से उसमें परिणमन का अभाव है, उसी प्रकार आत्मा के समान अविशेष रूप से नित्य, निष्क्रिय और अनन्त होने से प्रधान के भी विकार का अभाव है और प्रधान के विकार का अभाव होने से 'प्रधान का विकार आकाश है' - इस कल्पना का व्याघात होता है। अथवा जैसे प्रधान के विकार घट के अनित्यत्व, अमूर्तत्व और असर्वगतत्व है, उसी प्रधान का विकार होने से आकाश के भी अनित्यत्व, अमूर्तत्व और असर्वगतत्व होना चाहिए या फिर आकाश की तरह घट के भी नित्यत्व, अमूर्तत्व और सर्वगतत्व होना चाहिए, क्योंकि एक कारण से दो परस्पर अत्यन्त विरोधी कार्य नहीं हो सकते।³¹

छठें अध्याय के दसवें सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि कारण तुल्य होने से कार्य तुल्य होना चाहिए, इस पक्ष में प्रत्यक्ष और आगम से विरोध आता है। मिट्टी के पिण्ड से घट, घटी, शराब, उदन्चन आदि अनेक कार्य होने से उपर्युक्त सिद्धान्त से प्रत्यक्ष विरोध आता है। सांख्य एक प्रधान तुल्य कारण से महान् अहंकार आदि नाना कार्य मानते हैं।³²

वस्तुओं में भिन्न-भिन्न स्वभाव स्वीकार किए जाने में सांख्य का भी उदाहरण दिया गया है, जहाँ सत्व, रज, तम गुणों का प्रकाश, प्रवृत्ति और नियम आदि स्वभाव माना गया है।³³

योग दर्शन-समीक्षा - मोक्ष के कारणों के विषय में विभिन्न वादियों के मत वैभिन्न को दिखलाते हुए योगदर्शन की मान्यता की ओर निर्देश किया गया है, जिसके अनुसार ज्ञान और वैराग्य से मोक्ष होता है। पदार्थों के अवबोध को ज्ञान कहते हैं और विषयसुख की अभिलाषाओं के त्याग अर्थात् पंचेन्द्रियजन्म विषयसुखों में अनासक्ति को वैराग्य कहते हैं।³⁴

वेद-समीक्षा - प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र की व्याख्या में 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त की पंक्ति उद्धृत करते हुए कहा गया है कि ऋग्वेद में पुरुष ही सर्व है, वही तत्त्व है, उसका श्रद्धान् सम्यग्दर्शन है; यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि अद्वैतवाद में क्रिया-कारक आदि समस्त भेद-व्यवहार का लोप हो जाता है।³⁵

आठवें अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में वादरायण, वसु, जैमिनी आदि श्रुतविहित क्रियाओं का अनुष्ठान करनेवालों को अज्ञानी कहा है, क्योंकि इन्होंने प्राणिवध को धर्म का साधन माना है। समस्त प्राणियों के हित के अनुशासन में जो प्रवृत्ति कराता है, वही आगम हो सकता है, हिंसाविधायी वचनों का कथन करनेवाले आगम नहीं हो सकते, जैसे दस्युजनों के वचन।³⁶ अनवस्थान होने से भी ये आगम नहीं हैं अर्थात् कहीं हिंसा और कहीं अहिंसा का परस्पर विरोधी कथन इनमें मिलता है। जैसे पुनर्वसु पहला है, पुष्प पहला है, ये परस्पर विरोधी वचन होने से अनवस्थित एवं अप्रमाण हैं। उसी प्रकार वेद में भी कहीं पर पशुवध को धर्म का हेतु कहा है - जैसे एक स्थान पर लिखा है कि पशुवध से सर्व इष्ट पदार्थ मिलते हैं, यज्ञ विभूति के लिए है, अतः यज्ञ में होनेवाला वध अवध है। दूसरी जगह लिखा है कि 'अज' जिनमें अंकुर उत्पन्न होने की शक्ति न हो, ऐसे तीन वर्ष पुराने बीज से पिष्टमय बलिपशु बनाकर यज्ञ करना चाहिए, इस प्रकार हिंसा का खण्डन किया गया है। इस प्रकार ये वचन परस्पर विरोधी हैं, अतः अव्यवस्थित तथा विरोधी होने से वेदवाक्य प्रमाण नहीं हो सकते।³⁷ इस तरह वेदवाक्य की प्रामाण्यता का तत्त्वार्थवार्तिक में विस्तृत खण्डन किया गया है।³⁸

बौद्ध दर्शन-समीक्षा - अन्य दर्शनों की समीक्षा करते समय अकलंकदेव ने प्रायः बौद्ध, न्याय-वैशेषिक और सांख्य को दृष्टि में रखा है, किन्तु इनमें भी बौद्ध मन्तव्यों की उन्होंने जगह-जगह आलोचना की है। इसका कारण यह है कि उनके समय बौद्धधर्म जैनधर्म का प्रबल विरोधी धर्म था। बौद्धधर्म का मर्मस्पर्शी अध्ययन करने हेतु अकलंकदेव को छिपकर बौद्ध मठ में रहना पड़ा था। इस हेतु उन्हें अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा, किन्तु वे दुःखों के बीच रहकर भी घबराए नहीं। बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन कर उन्होंने जगह-जगह उनसे शास्त्रार्थ कर जैनदर्शन की विजय-दुन्दुभी बजायी। उनकी तर्कपूर्ण प्रतिभा को देखते हुए उन्हें 'अकलंक ब्रह्मा' कहा जाने लगा। तत्त्वार्थवार्तिक के कतिपय स्थल हम उदाहरणरूप में प्रस्तुत करते हैं जिससे उनकी बौद्धविद्या में गहरी पैठ की जानकारी प्राप्त होती है।

प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि यद्यपि बौद्ध रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों के निरोध से आत्मा के अभाव रूप मोक्ष के अन्यथा लक्षण की कल्पना करते हैं³⁹ तथापि कर्मबन्धन के विनाशरूप मोक्ष के सामान्य लक्षण में किसी भी वादी का विवाद नहीं है। बौद्ध कहते हैं कि अविद्या प्रत्यय संस्कार के अभाव से मोक्ष होता है,⁴⁰ जैनों का कहना है कि संस्कारों का क्षय ज्ञान से होता है या किसी अन्य कारण से? यदि ज्ञान से संस्कारों का क्षय होगा तो ज्ञान होते ही संस्कारों का क्षय भी हो जायेगा और शीघ्र मुक्ति हो जाने से प्रवचनोपदेश का अभाव होगा। यदि संस्कार-क्षय के लिए अन्य कारण अपेक्षित हैं तो चारित्र के सिवाय दूसरा कौन-सा कारण है? यदि संस्कारों का क्षय चारित्र से होता है तो ज्ञान से मोक्ष होता है, इस प्रतिज्ञा की हानि होगी।⁴¹

पाँचवें अध्याय के नौवें सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि बौद्ध लोक-धातुओं को अनन्त मानते हैं।⁴² अतः आकाश के प्रदेशों को जैनों द्वारा अनन्त माने जाने में कोई विरोध नहीं है।

पाँचवें अध्याय के सत्रहवें सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि कोई बौद्ध मानते हैं कि रुपण, अनुभवनिमित्त ग्रहण, संस्कृताभि संस्करण, आलम्बन और प्रज्ञप्तिस्वभाव लक्षण रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये पाँच स्कन्ध हैं। उन भिन्न लक्षणवाले स्कन्धों में यदि एक स्कन्ध के ही सर्व धर्मों की कल्पना करते हैं तो विज्ञान के नहीं होने पर भी अनुभव आदि नहीं होते हैं, अर्थात् विज्ञान के ही अनुभव आदि होते हैं। अतः एक विज्ञान को ही मानना चाहिए। उसी से ही रूपादि स्कन्धों का रुपण, अनुभवन, शब्द प्रयोग और संस्कारादि कार्य हो जायेंगे। इसी तरह शेष स्कन्धों की निवृत्ति हो जाने पर निरालम्बन विज्ञान की भी स्थिति नहीं रह सकती अर्थात् विज्ञान की भी निवृत्ति हो जाने से सर्वशून्यता ही हाथ रह जायगी, परन्तु बौद्धों को पाँच स्कन्धों का अभाव इष्ट नहीं है।⁴³

सभी वादी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पदार्थ को स्वीकार करते हैं। इसके समर्थन में कहा गया है कि कोई (बौद्ध) कहते हैं कि प्रत्येक रूप परमाणु अतीन्द्रिय है। उनका समुदाय, जो कि अनेक परमाणुवाला है, वह इन्द्रियग्राह्य है। चित्त और चैतसिक विकल्प अतीन्द्रिय हैं।⁴⁴

अमूर्त धर्म, अधर्म भी उपकारक होते हैं। इसके उदाहरण में बौद्धों का यह सिद्धान्त उपस्थित किया गया है कि अमूर्त भी विज्ञानरूप की उत्पत्ति का कारण होता है। नामरूप विज्ञान निमित्तक है।⁴⁵

पाँचवें अध्याय के अठाहरवें सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि यदि कोई (बौद्ध) ऐसा कहे कि आकाश नाम की कोई वस्तु नहीं है, केवल आचरण का अभावमात्र है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। आकाश आवरण का अभाव मात्र नहीं है, अपितु वस्तुभूत है, क्योंकि नाम के समान उसकी सिद्धि है। जैसे - नाम और वेदना आदि अमूर्त होने से अनावरण रूप होकर भी सत् हैं, ऐसा जाना जाता है; उसी प्रकार अमूर्त होने से अनावरण रूप होकर भी आकाश वस्तुभूत है, ऐसा जाना जाता है।⁴⁶

पाँचवें अध्याय के 19वें सूत्र की व्याख्या में यह सिद्ध किया गया है कि विज्ञान में सामर्थ्य का अभाव होने से मन विज्ञान नहीं है। क्षणिक वर्तमान विज्ञान पूर्व और उत्तर विज्ञानों से जब कोई सम्बन्ध नहीं रखता, तब गुण-दोष विचार और स्मरणादि व्यापार में कैसे सहायक बन सकता है।⁴⁷

पाँचवें अध्याय के 22वें सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि क्षणिक एकान्तवाद में प्रतीत्यवाद को स्वीकार करने से उसकी प्रक्रिया में जितना कारण होगा उतना कार्य होगा, अतः उनके भी वृद्धि नहीं होगी। किं च सर्व के क्षणिक होने से अंकुर का और उसके अभिमत कारण भौमरस, उदकरस आदि का विनाश होगा या पौर्वापर्य (क्रम) से। यदि कार्य और कारणों का युगपत् नाश होता है तो उनके द्वारा वृद्धि क्या होगी? क्योंकि वृद्धि के कारण जब स्वयं नष्ट हो रहे हैं, तब वे अन्य विनश्यमान पदार्थ की क्या वृद्धि करेंगे? अर्थात् विनश्यमान पदार्थ अन्य विनश्यमान पदार्थ की वृद्धि करते हुए लोक में नहीं देखे जाते। यदि कार्य-कारण क्रमशः नष्ट होते हैं, तब भी नष्ट अंकुर का भौमरस, उदकरस आदि क्या कर सकते हैं? अथवा विनष्ट रसादि अंकुर का क्या कर सकेंगे? अनेकान्तवाद में तो अंकुर या भौमरसादि सभी पदार्थ द्रव्यदृष्टि से नित्य हैं और पर्यायदृष्टि से क्षणिक हैं। अतः वृद्धि हो सकती है।⁴⁸

कारणतुल्य होने से कार्यतुल्य होना चाहिए, ऐसा कहने में आगम-विरोध आता है, क्योंकि बौद्ध अविद्यारूप तुल्यकारणों से पुण्य-अपुण्य और अनुभय संस्कारों की उत्पत्ति मानते हैं।⁴⁹

सल्लेखना पर बौद्धों द्वारा आपत्ति किये जाने पर कहा है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं, इस प्रकार कहनेवाले क्षणिकवादी के स्वसमय विरोध है, उसी प्रकार जब सत्व (जीव), सत्व संज्ञा (जीव का ज्ञान), वधक (हिंसक) और वधचित्त (हिंसा) इन चार चेतनाओं के रहने पर हिंसा होती है, ऐसा कहनेवाले (इस मतवादी) के जब आत्मवधक चित्त ही नहीं है, तब सल्लेखना करनेवाले के आत्मघात का दोष देने पर स्वसमय (स्ववचन) विरोध आता है।⁵⁰

सातवें अध्याय के 38वें सूत्र की व्याख्या में दान के प्रसंग में कहा गया है कि प्रतिग्रह आदि क्रियाओं में आदर विशेष विधि विशेष है। सर्व पदार्थों को निरात्मक मानने पर विधि आदि रूप का अभाव हो जाता है। जिस दर्शन में निरात्मक (क्षणिक) है, उस दर्शन में विधि आदि की विशेषता नहीं हो सकती। यदि विधि आदि की विशेषता है तो सर्वभाव निरात्मक है - इस सिद्धान्त के व्याघात का प्रसङ्ग आता है। क्षण मात्र आलम्बनरूप विज्ञान में इस बात की सिद्धि नहीं होती। जब ज्ञान सर्वथा क्षणिक है तब तप, स्वाध्याय और ध्यान में परायण यह ऋषि मेरा

उपकार करेगा, इसके लिए दिया गया दान, व्रती, शील, भावना आदि की वृद्धि करेगा, इसकी यह विधि है। इस प्रकार का अनुसन्धान-प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्वोत्तर क्षण विषयक ज्ञान, संस्कार आदि के ग्राहक एक ज्ञान का अभाव है। अतः इस पक्ष में दानविधि नहीं बन सकती।⁵¹

प्रथम अध्याय के छठे सूत्र की व्याख्या में अनेकान्तवाद का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि विज्ञानाद्वैतवादियों के सिद्धान्त में बाह्य परमाणु एक नहीं है, किन्तु तदाकार परिणत विज्ञान ही परमाणु संज्ञा को प्राप्त होता है। ये ग्राह्याकार, ग्राहकाकार और संवेदनाकार इन तीन शक्तियों का अधिकरण एक विज्ञान को स्वीकार करते हैं। इसलिए अनेक धर्मात्मक एक वस्तु में विरोध नहीं है।⁵²

अन्यत्र कहा गया है कि जिसके सिद्धान्त से आत्मा ज्ञानात्मक ही रहता है - उसके सिद्धान्त में आत्मा के ज्ञानरूप परिणमन का अभाव होगा, क्योंकि ज्ञानरूप से वह स्वयं परिणत है ही, परन्तु जैन सिद्धान्त में किसी पर्याय की अपेक्षा अन्य रूप से ही आत्मा का परिणमन माना जाये वा इतर रूप से ही परिणमन माना जाये तो फिर उस पर्याय का कभी विराम नहीं हो सकेगा। यदि विराम होगा तो आत्मा का भी अभाव हो जायेगा।⁵³

अद्वैतवाद-समीक्षा - अद्वैतवादी द्रव्य को तो मानते हैं, किन्तु रूपादि को नहीं मानते। उनका यह कहना विपरीत है। यदि द्रव्य ही हो, रूपादि नहीं हो तो द्रव्य का परिचायक लक्षण न रहने से लक्ष्यभूत द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा। इन्द्रियों के द्वारा सन्निकृष्यमाणं द्रव्य का रूपादि के अभाव में सर्व आत्मा (अखण्ड रूप से) ग्रहण का प्रसङ्ग आया और पाँच इन्द्रियों के अभाव का प्रसङ्ग आया, क्योंकि द्रव्य तो किसी एक भी इन्द्रिय से पूर्ण रूप से गृहीत हो ही जायेगा। परन्तु ऐसा मानना न तो इष्ट ही है और न प्रमाण प्रसिद्ध ही है अथवा जिनका सिद्धान्त है कि रूपादि गुण ही है, द्रव्य नहीं है, उनके मत में निराधार होने से रूपादि गुणों का भी अभाव हो जायेगा।⁵⁴

उपर्युक्त वादों की समीक्षा के साथ जैन दार्शनिक मान्यताओं का समर्थन अकलंकदेव ने प्रबल युक्तियों द्वारा किया है। इस दृष्टि से प्रथम अध्याय के छठे सूत्र की व्याख्या में सप्तभङ्गी का निरूपण, 9वें से 13वें सूत्र तक ज्ञानविषयक विविध विषयों की आलोचना, अन्तिम सूत्र की व्याख्या में ऋजुसूत्र का विषय निरूपण, द्वितीय अध्याय के 8वें सूत्र की व्याख्या में आत्मनिषेधक अनुमानों का निराकरण, चतुर्थ अध्याय के अन्त में अनेकान्तवाद के स्थापनपूर्वक नयसप्तभङ्गी और प्रमाणसप्तभङ्गी का विवेचन, पाँचवें अध्याय के 24वें सूत्र की व्याख्या में अपरिणामवादियों द्वारा परिणामित्व पर आए दोषों का निराकरण, व्यासभाष्य के परिणाम के लक्षण की आलोचना तथा क्रिया को ही काल माननेवालों का खण्डन दर्शनशास्त्र के महत्वपूर्ण विषय हैं।⁵⁵

आगमिक वैशिष्ट्य - तत्त्वार्थसूत्र में आगमिक मान्यताओं को निबद्ध किया गया है। टीकाकारों ने इन सूत्रों की व्याख्या युक्ति और शास्त्र के आधार पर की है। अकलंकदेव का तत्त्वार्थवार्तिक भी इसका अपवाद नहीं है। प्रथम अध्याय के 7वें सूत्र की व्याख्या में निर्देश,

स्वामित्व आदि की योजना की गई है। प्रथम अध्याय के 20वें सूत्र की व्याख्या में द्वादशांग के विषयों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। आगम में 363 मिथ्यामत बतलाए गए हैं। तत्त्वार्थवार्तिक में 8वें अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में 363 मतों का प्रतिपादन इस प्रकार है -

परोपदेश से होनेवाला मिथ्यादर्शन क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक मत के भेद से चार प्रकार का है। कौक्कल, माण्डेविद्धि, कौशिक, हरि, श्मश्रवान्, कपिल, रमेश, हारित, अश्वमुण्ड, आश्वलायन आदि के विकल्प से क्रियावादी मिथ्यादृष्टियों के 84 भेद हैं। मरीचि, कुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रशूति, वाट्ठलि, माडर, मौद्गल्यायन आदि दर्शनों के भेद से अक्रियावादियों के 180 भेद हैं। साकल्य, वाष्कल, कुथुमि, सात्ययमुग्नि, चारायण, काठ, माध्यन्दिनी, मोद, पैप्पलाद, वादरायण, स्वष्टिकृत, ऐतिकायन, वसु, जैमिनी आदि मतों के भेद से अज्ञानवाद मिथ्यात्व के 67 भेद हैं। वशिष्ठ, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिण, सत्यदत्त, व्यास, ऐलपुत्र, उपमन्यव, इन्द्रदत्त, अपस्थुलादि मार्ग के भेद से वैनयिक मिथ्यात्व के 32 भेद हैं। इस प्रकार 363 मिथ्या मतवाद हैं।⁵⁶

यही कहा गया है कि आगम प्रमाण से प्राणिवध को धर्म का हेतु सिद्ध करना उचित नहीं है, क्योंकि प्राणिवध का कथन करनेवाले ग्रन्थ के आगमत्व की असिद्धि है।⁵⁷ 1-21-22 की व्याख्या में अवधिज्ञान का विषय, 2-7 की व्याख्या में सन्निपातिक भावों की चर्या, 2-49 की व्याख्या में शरीरों का तुलनात्मक विवेचन, तीसरे अध्याय की व्याख्या में अधोलोक और मध्यलोक का विवेचन, पाँचवें अध्याय की व्याख्या में जैनों के षट्द्रव्यवाद का निरूपण, छठे अध्याय में आस्रव, सातवें में जैनाचार, आठवें में कर्मसिद्धान्त, नवें में मुनि आचार तथा ध्यान तथा दसवें में मोक्ष का विवेचन अवलोकनीय है।⁵⁸

व्याकरणिक वैशिष्ट्य - अकलंकदेव व्याकरण शास्त्र के महान् विद्वान् थे। पाणिनीय व्याकरण तथा जैनेन्द्र व्याकरण का उन्होंने भली-भाँति पारायण किया था। व्युत्पत्ति और कोश ग्रन्थों का उनका अच्छा अध्ययन था। तत्त्वार्थवार्तिक में स्थान-स्थान पर सूत्रों एवं उसमें आगत शब्दों का जब वे व्याकरण की दृष्टि से औचित्य सिद्ध करते हैं तब ऐसा लगता है जैसे वे शब्दशास्त्र लिख रहे हों। इस प्रकार के सैकड़ों स्थल प्रमाण रूप में उद्धृत किए जा सकते हैं। जैसे -

ज्ञानवान में मत्तुप प्रत्यय प्रशंसा अर्थ में है, क्योंकि ज्ञानरहित कोई आत्मा नहीं है। जैसे कहा जाता है कि यह रूपवान् है, रूप में मत्तुप प्रत्यय प्रशंसा अर्थ में है, क्योंकि रूपरहित कोई पुद्गल नहीं है।⁵⁹

विभक्त कर्ता और अविभक्त कर्ता के भेद से करण दो प्रकार के हैं। जिसमें करण और कर्ता पृथक्-पृथक् होते हैं, उसे विभक्त कर्तृक (करण) कहते हैं। जैसे -

'देवदत्त परशु से वृक्ष को काटता है', इसमें परशु (कुल्हाड़ी) रूप करण देवदत्तरूप कर्ता से भिन्न है। जिसमें कर्ता से अभिन्न करण होता है, उसको अविभक्तकर्तृक (करण) कहते हैं। जैसे उष्णता से अग्नि ईंधन को जलाती है, इसमें उष्णता रूप करण अग्नि रूप कर्ता से अभिन्न है। इसी प्रकार आत्मा ज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानता है - यह अविभक्तकर्तृक (करण) है,

क्योंकि उष्णता की अग्नि से और ज्ञान की आत्मा से पृथक् सत्ता ही नहीं है अथवा कुशूल के स्वातन्त्र्य के समान दृष्टान्त से जाना जाता है। जैसे - देवदत्त कुशूल को तोड़ रहा है - इसमें कुशूल की भेदन-क्रिया में जब स्वतंत्रता की विवक्षा की जाती है तब कुशूल स्वयं ही नष्ट हो रहा है, क्योंकि भेदन-क्रिया तो कुशूल में हो रही है, तब कुशूल स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही करण बन जाता है। उसी प्रकार आत्मा ही ज्ञाता और ज्ञान होकर कर्ता एवं करण रूप बन जाता है। अर्थात् आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है, इसमें अभिन्न कर्ता-करण है।⁶⁰

प्रश्न :- कर्ता और कर्म में एकता मानने पर लक्षण का अभाव होगा, क्योंकि 'युट्' प्रत्यय होता है।

उत्तर :- ऐसा कहना योग्य नहीं है, क्योंकि व्याकरण शास्त्र में कहे गये 'युट्' और 'णिच्' प्रत्यय कर्ता आदि सभी साधनों से पाये जाते हैं। भावकर्म में कहे गये 'त्य' प्रत्यय करणादि में देखे जाते हैं। जिससे स्नान करता है - स्नानीय चूर्ण, जिसके लिए देता है - वह दानीय अतिथि, समावर्तन किया जाता है, वह समावर्तनीय गुरु कहलाता है। इसी प्रकार करणाधिकरण और त.वा. 1/1/25 कर्मादि में युट् प्रत्यय देखा जाता है। जैसे - खाता है वह निरदन, प्रस्कन्दन जिससे होता है वह प्रस्कन्दन। इसी प्रकार सातों ही विभक्ति से होनेवाले शब्दों में युट् प्रत्यय होता है।⁶¹

एक ही अर्थ में शब्दभेद होने से व्यक्तिभेद देखा जाता है जैसे कि 'गेहं कुटी मटः' यहाँ एक ही घररूप अर्थ में विभिन्न लिंगवाले शब्दों का प्रयोग है। 'पुष्य, तारका, नक्षत्रम्' यहाँ एक ही तारा रूप अर्थ में विभिन्न लिंगक और विभिन्न वचनवाले शब्दों का प्रयोग है। इसी प्रकार ज्ञान शब्द विभिन्न लिंगवाला होते हुए भी आत्मा का वाचक है।⁶²

'दर्शन ज्ञान चारित्राणि' में तीनों की प्रधानता होने से बहुवचन का प्रयोग किया गया है। जैसे - 'प्लक्षन्नग्रोधपलाशाः' इसमें अस्ति आदि समान काल क्रियावाले प्लक्षादि के परस्पर अपेक्षा होने से और सर्व पदार्थ प्रधान होने से इतरेतन योग में द्वन्द्व समास और बहुवचन का प्रयोग है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में अस्ति आदि समान क्रिया, काल और परस्पर सापेक्ष होने से इतरेतर द्वन्द्व और सर्वपदार्थ प्रधान होने से बहुवचनान्त का प्रयोग किया गया है।⁶³

'भुजि' के समान सम्यक् विशेषण की परिसमाप्ति प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए अर्थात् द्वन्द्व समास के साथ कोई भी विशेषण चाहे वह आदि में प्रयुक्त हो या अन्त में, सबके साथ जुड़ जाता है। जैसे - गुरुदत्त, देवदत्त, जिनदत्त को भोजन कराओ, इसमें भोजन क्रिया का तीनों में अन्वय हो जाता है। वैसे ही प्रशासावचन सम्यक् शब्द का अन्वय दर्शनादि तीनों के साथ होता है - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र।⁶⁴

उपर्युक्त उदाहरण प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र के हैं। पूरे तत्त्वार्थवार्तिक में इस प्रकार की सैकड़ों चर्चाएँ हैं। विशेष अध्ययन करनेवालों को इन्हें ग्रन्थ से देखना चाहिए। इससे अकलंकदेव का व्याकरण के सभी अङ्गों का तलस्पर्शी ज्ञान सूचित होता है।

शब्दों के अनेक अर्थ - शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं, इसके उदाहरण तत्त्वार्थवार्तिक में अनेक मिल जायेंगे। जैसे - प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र की व्याख्या में अन्तर शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं। अन्तर शब्द छेद, मध्य, विरह आदि अनेक अर्थों में है। उनमें से अन्यतम ग्रहण करना चाहिए। अन्तर शब्द के अनेक अर्थ हैं, यथा - 'सान्तरं काष्ठ' में 'अन्तर' छिद्र अर्थ में है अर्थात् छिद्रसहित काष्ठ है। 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते' यहाँ अन्तर शब्द अन्य अर्थ में है अर्थात् द्रव्यान्तर का अर्थ अन्य द्रव्य है। 'हिमवत्सागरान्तरे' इसमें अन्तर शब्द का अर्थ मध्य है अर्थात् हिमवान् पर्वत और सागर के मध्य में भरत क्षेत्र है। क्वचित् समीप अर्थ में अन्तर शब्द आता है। जैसे - स्फटिक शुक्लरक्ताद्यन्तरस्थस्य तद्वर्णता, श्वेत और लाल रंग के समीप रखा हुआ स्फटिक। यहाँ अन्तर का अर्थ समीप है। कहीं पर विशेषता अर्थ में भी अन्तर शब्द का प्रयोग बताया है। जैसे - घोड़ा, हाथी और लोहे में, लकड़ी, पत्थर और कपड़े में, स्त्री-पुरुष और जल में, अन्तर ही नहीं महान् अन्तर है। यहाँ अन्तर शब्द वैशिष्ट्यवाचक है। कहीं पर बहिर्योग में अन्तर शब्द प्रयुक्त होता है। जैसे - 'ग्रामस्यान्तरे कूपाः' में बाह्यार्थक अन्तर शब्द है अर्थात् गाँव के बाहर कुये हैं। कहीं उपसंख्यान अर्थात् अन्तर्वस्त्र के अर्थ में अन्तर शब्द का प्रयोग होता है, यथा 'अन्तरे शाटकाः।' कहीं विरह अर्थ में अन्तर शब्द का प्रयोग होता है, जैसे - 'अनभिप्रेत श्रोतृ जनान्तरे मन्त्रयते' अर्थात् अनिष्ट व्यक्तियों के विरह में मन्त्रणा करता है। इस प्रकरण में छिद्र, मध्य और विरह में से कोई एक अर्थ लेना।

अनुपहत वीर्य का अभाव होने पर पुनः उसकी उद्भूति होना अन्तर है। किसी समर्थ द्रव्य की किसी निमित्त से अमुक पर्याय का अभाव होने पर निमित्तान्तर से, जब तक वह पर्याय पुनः प्रकट नहीं होती, तब तक के काल को अन्तर कहते हैं।⁶⁵

अन्त शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' में विवक्षावश समाप्ति अर्थ ग्रहण करना चाहिए। यह अन्त शब्द अनेकार्थवाची है। कहीं अन्त शब्द अवयव अर्थ में आता है। जैसे - वस्त्र का अन्त अर्थात् वस्त्र का एक अंश। कहीं सामीप्य अर्थ में आता है। 'उदकान्तं गतः' पानी के समीप गया। कहीं अवसान में आता है। जैसे 'संसारान्तं गतः' संसार का अन्त हो गया।⁶⁶

अक्ष शब्द भोजन, सेवन तथा खेलने के अर्थ में आता है।⁶⁷

प्रत्यय शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी 'लब्धिप्रत्ययं च' सूत्र में हेतु अर्थ में लेना चाहिए। क्वचित् ज्ञान अर्थ में प्रत्यय शब्द आता है। जैसे - अर्थामिधान प्रत्यया - अर्थ का ज्ञान। कहीं सत्यता में आता है। जैसे - 'प्रत्ययं कर्तुं' इसमें सत्य करो, यह अर्थ होता है। क्वचित् कारण अर्थ में प्रत्यय शब्द आता है - 'मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये प्रत्यय हैं अर्थात् कर्मादान में कारण हैं। इस सूत्र में प्रत्यय शब्द कारण का पर्यायवाची जानना चाहिए।⁶⁸

1. विशेष जानकारी के लिए सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री की सर्वार्थसिद्धि की प्रस्तावना देखिए।
2. न्यायकुमुदचन्द्र, प्र. भाग, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृष्ठ 43
3. तत्त्वार्थवार्तिक 1.1.18
4. वही, 1.1.12
5. वही, 1.1.13
6. वही, 1.1.14
7. वही, 1.1.15
8. वही, 1.1.16
9. वही, 1.1.44
10. वही, 1.6.14
11. वही, 1.10.8-9
12. वही, 1.32.4
13. केचितावदाहुः ज्ञानादेव मोक्ष इति। वही, मंगलाचरण, 6
14. वही, 1.1.45
15. वही, 1.1.49
16. वही, 5.18.12
17. वही, 5.26.17
18. वही, 7.22.10
19. वही, 7.39.9
20. वही, 5.22.9
21. अपर आहः क्रियात एवं मोक्ष इति। तत्त्वार्थवार्तिक 1.1.5
22. सत्सम्प्रयोगे पुरुषष्येन्द्रियाणं बुद्धिजन्मतत्प्रत्यक्षं। वही, 1.1.5; मो. द. 1.12.4
23. तत्त्वार्थवार्तिक 1.12.5
24. अपूर्वाख्यो धर्मः क्रियया अभिव्यक्तः सन्नमूर्तोऽपि पुरुषस्योपकारी वर्तते तथा धर्माधर्मयोरपि गतिस्थित्युपग्रहोऽवसेयः। वही, 5.17.41
25. तत्त्वार्थवार्तिक 5.24.5
26. वही, 1.1.8
27. वही, 1.1.8
28. इतरे ब्रुवते-प्रकृतिपुरुषयोरनन्तत्वं सर्वगतत्वादिति। वही, 5.9.4
29. तत्त्वार्थवार्तिक 5.17.23
30. वही, 5.17.41
31. वही, 5.18.1
32. वही, 6.10.11
33. वही, 6.27.6
34. वही, 1.1.6
35. वही, 1.2.24
36. वही, 8.1.13

37. तत्त्वार्थवार्तिक 8.1.12-14
38. वही, 8.1.15-27
39. अन्ये अन्यथालक्षणं मोक्षं परिकल्पयन्ति-रूपवेदना संज्ञा संस्कार विज्ञान पंचस्कन्धनिरोधादभावो मोक्षः इति। त. वार्तिक 1.1, पृष्ठ 2
40. 'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः' इत्यादिवचनं केषान्चित्। वही, 1.1.46
41. तत्त्वार्थवार्तिक 1.1.52
42. केचित्तावदाहुः अनन्त लोकधातवः, वही, 5.9.4
43. वही, 5.17.24
44. वही, 5.17.34
45. वही, 5.17.41
46. वही, 5.18.11
47. वही, 5.19.32
48. वही, 5.22.15
49. वही, 6.10.11
50. वही, 7.22.10
51. वही, 7.39.7-8
52. वही, 1.6.14
53. वही, 2.8.12
54. वही, 1.32.3
55. न्यायकुमुदचन्द्रः प्रस्तावना, पृष्ठ 44
56. तत्त्वार्थवार्तिक 8.1.8-12
57. वही, 8.1.13
58. न्यायकुमुदचन्द्रः प्रस्तावना, पृष्ठ 44
59. तत्त्वार्थवार्तिक 1.1.3
60. वही, 1.1.21-22
61. वही, 1.1.25
62. वही, 1.1.27
63. वही, 1.1.34
64. वही, 1.1.35
65. वही, 1.8.7-8
66. वही, 1.22.1
67. वही, 2.23.4
68. वही, 2.47.1

आस्रव के कारण

दुःखशोकतापाकन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानि असद्वेद्यस्य ।

पीडालक्षणः परिणामो दुःखम् ॥ 1 ॥ विरोधिद्रव्योपनिपाताभिलषितवियोगाऽनिष्टनिष्ठुर
श्रवणादिबाह्यसाधनापेक्षात् असद्वेद्योदयादुत्पद्यमानः पीडालक्षणः परिणामो दुःखमित्याख्यायते ।

अनुग्राहकसम्बन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः ॥ 2 ॥ अनुग्राहकस्य बान्धवादेः
संबन्धविच्छेदे तद्गताशयस्य चिन्ताखेदलक्षणः परिणामो वैक्लव्यविशेषो
मोहकर्मविशेषशोकोदयापेक्षः शोक इत्युच्यते ।

परिवादादिनिमित्तादाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः ॥ 3 ॥ परिवादः परिभवः
, परुषवचनश्रवणादिनिमित्तापेक्षया कलुषान्तःकरणस्य तीव्रानुशयः परिणामः ताप इत्यभिधीयते ।

परितापजाश्रुपातप्रचुरविलापाद्यभिव्यक्तं क्रन्दनमाक्रन्दनम् ॥ 4 ॥
परितापनिमित्तेना-श्रुपातप्रचुरविलापेनाङ्गविकारादिना चाभिव्यक्तं क्रन्दनमाक्रन्दनं प्रत्येतव्यम् ।

आयुरिन्द्रियबलप्राणवियोगकरणं वधः ॥ 5 ॥ भावधारणकारणस्यायुषः
रूपादिग्रहणनिमित्तानाम् इन्द्रियाणां कायादिवर्गणालम्बनबलस्योच्छ्वासनिःश्वासलक्षणस्य च
प्राणस्य परस्परतो वियोगकरणं वध इत्यवधार्यते ।

संक्लेशप्रवणं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयमनुकम्पाप्रायं परिवदेवनम् ॥ 6 ॥
संक्लेशपरिणामालम्बनं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयम् अनुकम्पाप्रचुरं परिदेवनमिति परिभाष्यते ।

तत्त्वार्थराजवार्तिक, 6.11

आत्मस्थ, परस्थ और उभय में होनेवाले दुःख, शोक (आतप, क्रन्दन, वध, परिदेवन)
आदि असाता वेदनीय के आस्रव के कारण हैं ।

विरोधी पदार्थों का मिलना, इष्ट का वियोग, अनिष्ट-संयोग और निष्ठुर वचन आदि
बाह्य कारणों की अपेक्षा से तथा असाता वेदनीय के उदय से होनेवाला पीड़ा लक्षण
परिणाम दुःख है । अनुग्रह करनेवाले बन्धु आदि से विच्छेद हो जाने पर उसका बार-बार
विचार करके जो चिन्ता, खेद और विकलता आदि मोहकर्म विशेष शोक के उदय से होते
हैं वे शोक हैं । परिभवकारी कठोर वचन के सुनने आदि से कलुष चित्तवाले व्यक्ति के
भीतर ही भीतर तीव्र जलन या अनुशय परिणाम होते हैं वे ताप हैं । परिताप के कारण
अश्रुपात, अंगविकार - माथा फोड़ना, छाती कूटना आदि पूर्वक जो रोना है वह आक्रन्दन
है । आयु, इन्द्रिय, बल और प्राण आदि का विघात करना वध है । अतिसंक्लेशपूर्वक ऐसा
रोना-पीटना जिसे सुनकर स्वयं अपने तथा दूसरे को दया आ जाय परिदेवन है ।

अनु. - प्रो. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

तत्त्वार्थराजवार्तिक और कर्मबन्ध के प्रत्यय

— डॉ. (श्रीमती) कुसुम पटोरिया



कर्मबन्ध की प्रक्रिया में 'मिथ्यात्व की भूमिका' का प्रश्न कुछ वर्षों से चर्चा का विषय बना हुआ है। यद्यपि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को बन्ध के हेतु, सामान्य प्रत्यय तथा मूल प्रत्यय कहा गया है,¹ तथापि 'मिथ्यात्व की कर्मबन्ध की भूमिका' चर्चा में है।² इसका कारण यह है कि प्रकृति व प्रदेश-बन्ध योग के निमित्त से तथा स्थिति व अनुभाग-बन्ध कषाय के निमित्त से कहे गये हैं।³ यद्यपि आचार्य अकलंक ने विरत के भी प्रमाद संभव होने के कारण तथा अविरति और कषाय में कार्य-कारण भाव होने से उन्हें पृथक् मानने का समर्थन किया है,⁴ तथापि समयसार और धवला टीका में प्रमाद का संज्वलन कषाय की तीव्रोदय की अवस्था होने के कारण कषाय में अन्तर्भाव किया गया है। अविरति भी कषाय में अन्तर्भूत हो सकती है।⁵ अतः मिथ्यात्व ही बन्ध-प्रत्यय की दृष्टि से विचारणीय बचता है।

आचार्य अकलंक ने राजवार्तिक में इस विषय का जो विवेचन किया है, उसका विमर्श इस लेख का प्रतिपाद्य है। यहाँ गुणस्थानों के अनुसार मिथ्यात्वादि हेतुओं का विचार करते हुए कहा गया है कि प्रथम गुणस्थान में अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व आदि प्रकृतियों के बंध में पाँचों मिलकर हेतु हैं। दूसरे, तीसरे व चौथे गुणस्थानों में मिथ्यात्व को छोड़कर शेष चार हेतु हैं, क्योंकि वहाँ मिथ्यात्व का अभाव है। पाँचवें गुणस्थान में भी ये चारों ही हेतु हैं। प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थान में प्रमाद, कषाय और योग ये तीन हेतु हैं। अप्रमत्तसंयत से सूक्ष्मसाम्पराय

अर्थात् सातवें से लेकर दसवें गुणस्थान तक कषाय और योग हेतु हैं। इसके कषायों के उपशम व क्षय अर्थात् अभाव के कारण केवल योग ही बन्ध का हेतु है। चौदहवाँ गुणस्थान अयोगकेवली का होने से योग का भी अभाव है, अतः वहाँ किसी प्रकार का बन्ध नहीं है। बन्ध के समस्त हेतुओं का अभाव है।⁶

वस्तुतः प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभागरूप बन्ध के चार प्रकारों में अन्तिम दो ही मुख्य हैं। आगम में एक समय के बन्ध को बन्ध ही नहीं कहा गया है। एक समय के बन्ध को दीवार पर फेंकी गई मुट्टीभर रेत के समान कहा गया है, जो दीवार से बँधती ही नहीं है।⁷ सम्बन्ध की स्थिति स्थितिबन्ध के बिना नहीं होती और अनुभाग सुख-दुःख के विपाक में निमित्त है।⁸ अतः स्थिति और अनुभाग बन्ध ही प्रमुख हैं और इनका कारण कषाय है।

आचार्य अकलंक कहते हैं कि मिथ्यादर्शन आदि के आवेश से आर्द्र आत्मा में चारों ओर से योगविशेष से कर्मयोग्य पुद्गलों का अविभागात्मक बन्ध हो जाता है। योग और कषाय से ही पुद्गलों का कर्मरूप परिणमन होता है। इससे स्पष्ट है कि योग और कषाय ही बन्ध के प्रमुख कारण हैं। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में जो कषायरहित मात्र योगकृत आस्रव व बन्ध है, उसका कारण वहाँ कषाय का अभाव है।⁹ कषाय से स्थिति व अनुभाग बंध के नियम में यह अपवाद है। इन गुणस्थानों में बंध का हेतु एकमात्र योग है। अन्यत्र अर्थात् प्रथम से दसवें गुणस्थान तक प्रकृति-प्रदेश बन्ध का हेतु योग तथा स्थिति-अनुभाग बंध का हेतु कषाय है।

मिथ्यात्व आदि सोलह प्रकृतियाँ मिथ्यात्व प्रत्यय से बन्ध को प्राप्त होती हैं।¹⁰ मिथ्यात्व के उदय के बिना इनका बंध नहीं होता। जब मिथ्यात्व का उदय हो, तो शेष पन्द्रह प्रकृतियाँ बँधें ही, ऐसा नियम नहीं है। अतः मिथ्यात्व का उदय इनके उदय में सामान्य कारण है।

कर्म-बन्ध के सामान्य/असामान्य दो प्रकार के कारण कहे गये हैं। सामान्य योग्यता होने पर ही बन्ध के विशेष कारण होने पर बन्ध होगा। मिथ्यात्वादि ऐसे ही सामान्य प्रत्यय हैं। सामान्य प्रत्यय बन्ध के उदय में अपेक्षित होते हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान में बँधनेवाली सभी प्रकृतियों के बन्ध का सामान्य कारण मिथ्यात्व है। प्राकृत पंचसंग्रह में मिथ्यात्व की प्रधानता से बन्ध कहा है।¹¹ तथा कषाय की वृद्धि-हानि से स्थिति व अनुभाग की वृद्धि-हानि तथा योग की वृद्धि-हानि से प्रदेशबन्ध की वृद्धि-हानि कही गई है। उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध का कारण तीव्र संक्लेश होता है। तीव्र संक्लेश कषाय की तीव्रता से ही होता है। मिथ्यात्व की स्थिति भी अनन्तानुबन्धी कषाय की तीव्रता और मन्दता पर निर्भर है। मिथ्यात्व के उदय में अनन्तानुबन्धी कषाय की तीव्रता में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होता है।

मिथ्यात्व के साथ उदय में रहनेवाली अनन्तानुबन्धी कषाय द्विविध शक्तिसंयुक्त कही गई है। इसी कारण यह सम्यक्त्व और सम्यक्चारित्र दोनों का घात करती है।

तत्त्वार्थवार्तिक में कहा गया है कि अनन्त मिथ्यादर्शन को बाँधने के कारण अनन्तानुबन्धी यह कषाय की अन्वर्थ संज्ञा है। यह कषाय मिथ्यादर्शनरूपी फल को सम्पादित कर मिथ्यादर्शन

को ही प्रवेश कराती है।¹² इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार मिथ्यात्व के स्थितिवन्ध का कारण भी कषाय ही है। सासादन गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी के उदय से मिथ्यात्व के अभाव में भी इसके तीनों ज्ञान अज्ञान कहे जाते हैं अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से ही उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है।

सर्वार्थसिद्धि में ये पंक्तियाँ हैं - 'अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम्। तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः।' इसके पश्चात् तत्त्वार्थसूत्र की अन्य टीकाओं में भी यह सर्वत्र उद्धृत है।

इसमें से दूसरी पंक्ति के प्रमुख रूप से दो प्रकार के अर्थ किये गये हैं। उस मिथ्यात्व का अनुगमन करनेवाली अथवा उसका आश्रय पाकर बाँधनेवाली क्रोध-मान-माया-मोह अनन्तानुबन्धी कषायें हैं। इस अर्थ में अनन्तानुबन्धी कषाय को मिथ्यात्व की सहचरी, अनुवर्तिनी कहा गया है।¹³

दूसरे अर्थ में अनन्त मिथ्यादर्शन को बाँधनेवाली कषायें अनन्तानुबन्धी हैं। तत्त्वार्थवार्तिक में तो स्पष्ट ही कहा है कि वह कषाय मिथ्यादर्शनरूपी फलों को उत्पन्न कर मिथ्यादर्शन का प्रवेश कराती है।¹⁴ इस प्रकार कषाय ही मिथ्यात्व के उदय में मिथ्यात्व के बन्ध का कारण मानी गई है।

मिथ्यात्वादि सामान्य तथा कषाय व योग विशेष प्रत्यय हैं। सामान्य प्रत्यय के होने पर बन्ध रूप कार्य हो ही, ऐसा नहीं, किन्तु विशेष प्रत्यय के सद्भाव में कार्य की निष्पत्ति अवश्य होती है। तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के लिए सम्यग्दर्शन होना अनिवार्य है, परन्तु सम्यग्दर्शन तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का हेतु नहीं है।

आचार्यों ने बन्ध के दो भेद माने हैं। राजवार्तिक में बन्ध के द्रव्यबन्ध व भावबन्ध दोनों भेदों का निर्देश है।¹⁵ पुद्गल वर्गणाओं का कर्म के रूप परिणत हो आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह होना-द्रव्यबन्ध है। उसके द्वारा क्रोधादि परिणामों के वशीभूत होना भावबन्ध है। तत्त्वार्थसूत्र में आठवें अध्याय के प्रथम सूत्र में मिथ्यात्वादि को बन्ध हेतु कह देने के बाद जो दूसरा सूत्र दिया गया है, वह महत्त्वपूर्ण है। दूसरे सूत्र में 'सकषयात्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः' कहा गया है। इस सूत्र में जो कषाय का पुनर्ग्रहण है, उसके विषय में आचार्य अकलंक कहते हैं बन्धहेतुओं में कषाय का विशेष महत्त्व है, इसीलिए बन्ध के हेतुओं में निर्दिष्ट होकर भी यहाँ पुनर्ग्रहण किया गया है। कषायों की तीव्र, मन्द व मध्य स्थिति से ही स्थिति और अनुभाग होते हैं।¹⁶ इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकार व राजवार्तिककार दोनों ही कषाय को ही बन्ध का विशेष प्रत्यय कहते हैं। इस सूत्र में 'सकषयात्वात्' में कषाय का पुनः उल्लेख विशेष प्रतिपत्ति हेतु माना है - विशेषप्रतिपत्त्यर्थम्।

सम्यग्दर्शनादि मोक्ष का कारण है, तो मिथ्यात्व संसार का कारण।¹⁷ इसीलिए उसे अनन्त संसार का कारण अनन्त कहा है। इस अनन्त संसार के कारण अनन्त मिथ्यात्व का कारण है कर्म-बन्ध और कर्मबन्ध का विशेष प्रत्यय है कषाय। तत्त्वार्थवार्तिक के विवेचन का यही निष्कर्षार्थ है।

1. (अ) तत्त्वार्थसूत्र 8/1 मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादयोगा बन्धहेतवः।
(आ) समयसार गा.109 - सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छतं अविरमणं कसाय जोगा य बोद्धव्वा ॥
(इ) धवला टीका पुस्तक 8, पृ. 20
मिच्छतासंजमकसायजोगा इदि एते चत्तारि मूलपच्चया।
2. अकिंचित्कर, एक अनुशीलन, अकिंचित्कर-आचार्य विद्यासागर, कर्मबन्ध की प्रक्रिया में मिथ्यात्व व कषाय की भूमिका आदि।
3. तत्त्वार्थराजवार्तिक - प्रकृतिबन्ध प्रदेशबन्धः इत्येतौ द्वौ योगनिमित्तौ वेदितव्यौ। स्थितिबन्धोऽनुभवबन्धः इत्येतौ द्वावपि कषायहेतुकौ प्रत्येतव्यौ। 8/4, पृ. 567
धवला पुस्तक 12, पृ. 289- जोगा पयडिपदेसे द्विदि-अणुभागे कसायदो कुणदि।
कर्मकाण्ड 257 - जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥
4. तत्त्वार्थराजवार्तिक 8.1
5. धवला 7, पृ. 11 - को पमादो णाम? चदुसंजलण-णवणोकसायाणं तिव्वोदओ। चदुण्हं बंधकारणाणं मज्झे कथ पमादस्संतव्भावो? कसायेसु, कसायवदिरित्तपमादाणुवलंभादो।
6. तत्त्वार्थराजवार्तिक 8.1, पृ. 564
तत्र मिथ्यादृष्टे पन्चापि समुदिताः बन्धहेतवः।.....
उपशान्तक्षीणकषायसयोगकेवलिनं एक एव योगः। अयोगकेवली अबन्धहेतुः।
7. धवला पुस्तक 13, पृ. 54 - तस्स द्विदि-अणुभागबंधाभावेण सुक्ककुडुपक्खित्तवालुवमुट्ठि व्व जीवसंबंधविदियसमए चेव णिवदंसस्स बंधववएसविरोहादो।'
8. तत्त्वार्थराजवार्तिक 6.3 - अनुभागबन्धो हि प्रधानभूतः। तन्निमित्तत्वात् सुख-दुःख-विपाकस्य।
9. वही, 8.1 तथा 9.2 - केवलेनैव योगेन सद्देद्यस्योपशान्तक्षीणकषायसयोगिनां बन्धो.
10. धवला, पुस्तक 8, पृ 76 - सोलसकम्माणि मिच्छत्तपच्चयाणि, मिच्छत्तोदयेण विणा एदेसिं बंधाभावादो।
11. गाथा 488.9
12. तत्त्वार्थराजवार्तिक 9.1, पृ. 589 - तस्य (सासादनगुणस्थानवर्तिनः जीवस्य) मिथ्यादर्शनोदयाभावेऽपि अनन्तानुबन्ध्युदयात् त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानानि एव भवन्ति। अत एवास्यान्वर्थ-संज्ञा-अनन्तं मिथ्यादर्शनं तदनुबन्धनादनन्तानुबन्धीति। सहि मिथ्यादर्शनोदय-फलमायादयन् मिथ्यादर्शनमेव प्रवेशयति।
13. कर्मबन्ध की प्रक्रिया में मिथ्यात्व व कषाय की भूमिका, डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री।
14. तत्त्वार्थराजवार्तिक 9.1, पृ. 586
15. वही, 2.10 बन्धो द्विविधो द्रव्यबन्धो भावबन्धश्चेति। तत्र द्रव्यबन्धः कर्मनोकर्मपरिणतः पुद्गलद्रव्यविषयः। तत्कृतः क्रोधादिपरिणामवशीकृतो भावबन्धः।
16. वही, 9.2
17. भगवती आराधना - मिच्छत्तसल्लविद्धा तिव्वाओ वेदणाओ वेदंति।
विसलित्तकंडविद्धा जह पुरिसा णिप्पडीयारा ॥ 73 ॥
तथा - यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः। रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 3

‘तत्त्वार्थवार्तिक’ में प्रतिपादित मानवीय मूल्य

— डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन ‘भारती’



श्रीयुत् विनोबा भावे का कथन है, “पुराने शब्दों पर नये अर्थों की कलम लगाना ही विचार-क्रान्ति की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है।” जैन न्यायविद्या के अप्रतिम आचार्य भट्ट अकलंकदेव ने आचार्य श्री उमास्वामी द्वारा विरचित ‘तत्त्वार्थसूत्र’ ग्रन्थ पर ‘तत्त्वार्थवार्तिक’ लिखकर मूल ग्रन्थ के भाव एवं अर्थ को जनग्राह्य बनाने की दिशा में अपना उल्लेखनीय योगदान किया है। इसे विनोबा भावे के कथनानुसार विचारक्रान्ति की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली कहा और माना जाना चाहिए।

‘मानवीय मूल्य’ तत्त्वार्थवार्तिक में खोजे जायें इसके पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि मानवीय अर्थात् ‘मानव सम्बन्धी’¹ मूल्य अर्थात् रचना के भीतर वर्तमान रहनेवाला ऐसा उद्देश्य जो उसे किसी सामाजिक आदर्श, व्यक्तिगत उच्चता आदि से जोड़े;² ‘मानवीय मूल्य’ कहलाता है। “मानवीय संवेदना हर हालत में नैतिक-बोध (अर्थात् मानव-मूल्य) से जुड़ी रहती है, भले ही साधारण व्यक्ति को इसका ज्ञान न हो; परन्तु साहित्यकार की संवेदना अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म होती है; क्योंकि उसमें सचेतन नैतिक बोध रहता है।”³ साहित्यकारों के लिए मनुष्य और उसके हाव-भाव-गुण सदैव अध्ययन के विषय रहे हैं। वैसे भी “साहित्य मनुष्य का ही कृतित्व है और मानवीय चेतना के बहुविध प्रत्युत्तरों (Responses) में से एक महत्वपूर्ण प्रत्युत्तर है।”⁴ अतः मानवीय मूल्यों से साहित्य का बच पाना असंभव ही होता है।

पाश्चात्य विचारक आस्कर बाइल्ड भले ही नैतिक मूल्यानुराग को लेखक की शैली का अक्षम्य आडम्बर माने किन्तु भारतीय और विशेषकर आध्यात्मिक लेखकों के लिए नैतिक मूल्यानुराग छोड़ पाना सरल नहीं है।

श्री भट्ट अकलंकदेव की दृष्टि में सारे प्रयत्न सुख के लिए हैं - "सर्वेषां प्राणिनां परिस्पन्दः सुखं प्राप्त्यर्थः"¹⁵ किन्तु यह प्रश्न उठता है कि किसके सुख के लिए? मानववादी भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य की बात करते हैं किन्तु वहाँ भी यही प्रश्न उठता है कि किसका स्वातंत्र्य? तो एक ही उत्तर मिलता है - आत्म-स्वातंत्र्य। 'तत्त्वार्थवार्तिक' में मंगलाचरण की टीका में श्री भट्ट अकलंकदेव स्वयं लिखते हैं कि -

"संसारिणः पुरुषस्य सर्वेष्वर्थेषु मोक्षः प्रधानम् प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति तस्मान्तन्मार्गोपदेशः कार्यः तदर्थत्वात्।"¹⁶ अर्थात् संसारी आत्मा के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; इन चार पुरुषार्थों में अन्तिम (मोक्ष) प्रधानभूत पुरुषार्थ है अतः उसकी प्राप्ति के लिए मोक्षमार्ग का उपदेश करना ही चाहिए। किन्तु यह बिना मनुष्य को आधार बनाये संभव नहीं है क्योंकि मनुष्य पर्याय से ही मोक्ष लाभ होता है - "मनुष्यदेहस्य चरमत्वम्।"¹⁷

मनुष्य की इस शक्ति को जैनदर्शन ही नहीं बल्कि अन्य दर्शन भी स्वीकार करते हैं -

'महाभारत' में व्यासजी लिखते हैं - "गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रमोमि, नहिं मानुषात् श्रेष्ठतम् हि किञ्चित्।" अर्थात् - मैं तुम्हें ब्रह्म का रहस्य कहता हूँ, मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।

ब्रह्मपुराण के अनुसार - जो मनुष्य कर सकता है वह सुरासुर भी नहीं कर सकते।

सांख्यवृत्ति के अनुसार सृष्टि के षड्विधभेदों में मनुष्य उत्तम है - "देवादि षड्विधाय स्यात् संसारः कर्म, सुरोऽसुरो नरः प्रेतो नारकस्तिरयर्कस्तता।"¹⁸

आचार्य अकलंकदेव की दृष्टि में, "धर्मार्थ काममोक्षलक्षणानि कार्याणि नृणान्ति नयन्तीति नराः"¹⁸ अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चार पुरुषार्थों का नयन करने वाले 'नर' होते हैं। शक्ति की दृष्टि से "मनुष्य अपने में स्वतः सार्थक और मूल्यवान् है - वह आन्तरिक शक्तियों से सम्पन्न, चेतन स्तर पर अपनी नियति के निर्माण के लिए स्वतः निर्णय लेने वाला प्राणी है।"¹⁹ श्री सुमित्रानन्दन पंत की दृष्टि में -

**धर्मनीति औ सदाचार का,
मूल्यांकन है जनहित ॥**

अतः मनुष्य में ही मानवोचित गुणों का विकास किया जाना अपेक्षित है। इसी विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में 'मानववाद' उभरकर सामने आया, जो पारलौकिक मूल्यों के स्थान पर इहलौकिक मूल्यों को स्थान देने लगा। पंतजी लोकायतन में घोषित करते हैं कि -

**मानव दिव्य स्फुलिंग चिरन्तन, वह न देश का नश्वर रजकण।
देशकाल से उसे न बन्धन, मानव का परिचय मानवपन ॥**

‘पंचवटी’ में गुप्तजी के स्वर भी यही थे -

भव में नव वैभव प्राप्त करने आया। नर की ईश्वरता प्राप्त करने आया ॥

सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया। इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ॥

वाल्टर लिपमान ने मानव की बुद्धि, विवेक एवं श्रम द्वारा उत्तम जीवन की खोज को मानववाद कहा।

‘मानववाद’ का विश्लेषण करते हुए डॉ. धर्मवीर भारती ने लिखा कि - “मानववाद के उदयकाल में ईश्वर जैसी किसी मानवोपरि सत्ता या उसके प्रतिनिधि धर्माचार्यों को नैतिक मूल्यों का अधिनायक न मानकर मनुष्य को ही इन मूल्यों का विधायक मानने की प्रवृत्ति विकसित होने लगी थी।”¹⁰ इसे मानवीय गौरव का नाम दिया जाने लगा। “मानवीय गौरव का अर्थ है कि मनुष्य को स्वतंत्र, सचेत, दायित्वयुक्त माना जाय, जो अपनी नियति, अपने इतिहास का निर्माता हो सकता है। इसके लिए उसके विवेक और मनोबल को सर्वोपरि और अपराजेय माना जाय।”¹¹ मानवीय गरिमा के प्रति सभी अस्तित्ववादी चिन्तक एवं रचनाकार पूरी तरह सजग हैं।¹² डॉ. भारती अन्तरात्मा की पहचान मनुष्य की संवेदनशीलता से मानते हैं; वे लिखते हैं कि - “अन्तरात्मा मानवीय अन्तर में स्थित कोई दैवी या अति प्राकृतिक शक्ति न होकर वस्तुतः मानवीय गरिमा के प्रति हमारी संवेदनशीलता का ही दूसरा रूप है और मनुष्य के गौरव को प्रतिष्ठित करने और उसकी निरन्तर रक्षा करने के प्रति हमारी जागरूकता ही हमारी जागृत अन्तरात्मा का प्रमाण है।”¹³

इस अन्तरात्मा की पहचान, उसकी सत्ता का आभास आत्मशक्ति के परिज्ञान से होगा और तभी मानवीय मूल्यों या गुणों की पहचान संभव होगी। ‘अज्ञेय’ की यह कविता हमें उसी आत्म-शक्ति का आभास कराती है जिस आत्मशक्ति के बल पर आत्मज्ञान या आत्मलाभ या मोक्षप्राप्ति का लक्ष्य तत्त्वार्थवार्तिककार को अभिप्रेत है -

शक्ति असीम है,

मैं शक्ति का एक अणु हूँ,

मैं भी असीम हूँ।

एक असीम बूँद -

असीम समुद्र को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करती है,

एक असीम अणु -

उस असीम शक्ति को जो उसे प्रेरित करती है

अपने भीतर समा लेना चाहता है।¹⁴

उक्त मानव सम्बन्धी विवेचन में जहाँ लौकिक और भौतिक धरातल पर मनुष्य को खड़ा करने की चेष्टा की गयी है वहीं भट्ट अकलंकदेव की विचारधारा प्राणी (मानव) को भौतिक धरातल से आध्यात्मिक धरातल पर खड़ा करना चाहती है क्योंकि उनके विचारों के पीछे

(उनके ही अनुसार) - “संसार-सागर में डूबते हुए अनेक प्राणियों के उद्धार की पुण्य भावना है”¹⁵ जो प्रथम सूत्र ‘सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः’¹⁶ से अन्तिम सूत्र तक चलती है। अतः उन्होंने उन्हीं मानवीय मूल्यों को ‘तत्त्वार्थवार्तिक’ में स्थान दिया है जो मानव को मानवता के चरम लक्ष्य मोक्ष तक पहुँचा सकें। तत्त्वार्थवार्तिक में प्रतिपादित मानवीय मूल्य इसप्रकार हैं -

मद्य-मांस-मधु का निषेध

त्रस-घातकी निवृत्ति के लिए मधु और मांस को सदा के लिये छोड़ देना चाहिए। प्रमाद के नाश करने के लिए हिताहित विवेक को नष्ट करने वाली मोहकारी मदिरा का त्याग करना अत्यावश्यक है।¹⁷ विवेक की रक्षा, अहिंसापालन और क्रूरता से बचाव के लिए मद्य-मांस-मधु का निषेध कर स्वपरोपकार करना चाहिए।

परस्परोपग्रह

आचार्य उमास्वामी के अनुसार - ‘परस्परोपग्रहो जीवानाम्’¹⁸ अर्थात् जीव परस्पर उपकार करते हैं। भट्ट अकलंकदेव ने इस सूत्र को मानवीय मूल्य के रूप में रखा है। उनके अनुसार - “परस्पर शब्द कर्म व्यतिहार अर्थात् क्रिया के आदान-प्रदान को कहता है। स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य आदि रूप से व्यवहार परस्परोपग्रह है। स्वामी रुपया देकर तथा सेवक हित प्रतिपादन और अहित प्रतिषेध के द्वारा परस्पर उपकार करते हैं। गुरु उभयलोक का हितकारी मार्ग दिखाकर तथा आचरण कराके और शिष्य गुरु की अनुकूलवृत्ति से परस्पर के उपकार में प्रवृत्त होते हैं।¹⁹ स्वोपकार और परोपकार को अनुग्रह कहते हैं। पुण्य का संचय स्वोपकार है और पात्र की सम्यग्ज्ञान आदि की वृद्धि परोपकार है।”²⁰

मैत्री

सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद स्वामी ने “परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषी मैत्री”²¹ अर्थात् दूसरों को दुःख न हो - ऐसी अभिलाषा रखने को मैत्री कहा है। भट्ट अकलंकदेव ने मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदन; हर प्रकार से दूसरे को दुःख न होने देने की अभिलाषा को मैत्री कहा है।²² इसके लिए निम्न भावना भानी चाहिए -

क्षमयामि सर्वं जीवान् क्षाम्यामि सर्वजीवेभ्यः,
प्रीतियै सर्वसत्त्वैः वैरं मे न केनचित्।²³

अर्थात् मैं सब जीवों के प्रति क्षमाभाव रखता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें; मेरी सब जीवों से प्रीति है, किसी से वैर नहीं है; इत्यादि प्रकार की मैत्री भावना सब जीवों में करनी चाहिए।

प्रमोद

मुख की प्रसन्नता, नेत्र का आह्लाद, रोमाञ्च, स्तुति, सद्गुण-कीर्तन आदि के द्वारा प्रकट होने वाली अन्तरंग की भक्ति और राग प्रमोद है।²⁴ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राधिक गुणीजनों की वन्दना, स्तुति, सेवा आदि के द्वारा प्रमोद भावना भानी चाहिए।²⁵

अनुकम्पा

“सर्व प्राणिषु मैत्री अनुकम्पा”²⁶ अर्थात् प्राणीमात्र में मैत्रीभाव अनुकम्पा है। यह सराग सम्यग्दृष्टि का गुण माना गया है। दयार्द्र व्यक्ति का दूसरे की पीड़ा को अपनी ही पीड़ा समझकर कँप जाना अनुकम्पा है। इसके दो भेद हैं - 1. भूतानुकम्पा और 2. व्रती अनुकम्पा।²⁷ इस विषय में ‘अज्ञेय’ का मत है कि अनुकम्पा की भावना रखने से व्यक्ति दूसरों को दुःख देने से बचता है।

दर्द सबको माँजता है

और, जिन्हें वह माँजता है उन्हें यह सीख देता है

कि सबको मुक्त रखें।

करुणा

“दीनानुग्रह भावः कारुण्यम्” अर्थात् दीनों पर दयाभाव रखना कारुण्य है। शरीर और मानस दुःखों से पीड़ित दीन प्राणियों पर अनुग्रहरूप भाव कारुण्य है।²⁸ मोहाभिभूत, कुमति, कुश्रुत और विभंगज्ञानयुक्त विषय-तृष्णा से जलनेवाले हिताहित में विपरीत प्रवृत्ति करनेवाले, विविध दुःखों से पीड़ित दीन, अनाथ, कृपण, बाल-वृद्ध आदि क्लिश्यमान जीवों में करुणा भाव रखना चाहिए।²⁹

माध्यस्थ

“राग-द्वेषपूर्वक पक्षपाताभावो माध्यस्थम्” अर्थात् राग-द्वेषपूर्वक पक्षपात न करना माध्यस्थ है।³⁰ राग-द्वेषपूर्वक किसी एक पक्ष में न पड़ने के भाव को माध्यस्थ या तटस्थ भाव कहते हैं।³¹ ग्रहण, धारण, विज्ञान और ऊहापोह से रहित महामोहाभिभूत विपरीत दृष्टि और विरुद्धवृत्तिवाले प्राणियों में माध्यस्थ की भावना रखनी चाहिए।³²

वात्सल्य

जिनप्रणीत धर्मांश से नित्य अनुराग करना वात्सल्य है - “जिन प्रणीत धर्मांशे नित्यानुरागता वात्सल्यम्।”³³ जैसे गाय अपने बछड़े से अकृत्रिम स्नेह करती है उसी तरह धार्मिकजन को देखकर स्नेह से ओत-प्रोत हो जाना प्रवचनवात्सल्य है। जो धार्मिकों में स्नेह है, वही तो प्रवचनस्नेह है।³⁴

वैयावृत्त्य

गुणवान् साधुओं पर आये हुए कष्ट-रोग आदि को निर्दोष विधि से हटा देना, उनकी सेवा आदि करना बहु उपकारी वैयावृत्त्य है।³⁵ बाल, वृद्ध और तपस्वीजनों की वैयावृत्त्य को सातावेदनीय का आस्त्रव माना गया है।³⁶

अहिंसा

अहिंसा³⁷ सभी व्रतों में प्रधान है।³⁸ प्राणों के वियोग करने से प्राणी की हिंसा होती है। प्राण वियोग होने पर आत्मा को ही दुःख होता है अतः हिंसा है, और अधर्म है।³⁹ धर्म के नाम पर भी हिंसा उचित नहीं है। प्राचीनकाल में धर्म के नाम पर हिंसा होती थी; ऐसी हिंसा का प्रतिपादन करने वालों को भट्ट अकलंकदेव ने अज्ञानी कहा है। प्राणिवध तो पाप का ही साधन

हो सकता है, धर्म का नहीं। आगम की दृष्टि से भी यह उचित नहीं; क्योंकि आगम समस्त प्राणियों के हित का अनुशासन करता है।⁴⁰ हिंसक नित्य उद्विग्न रहता है, सतत उसके वैरी रहते हैं, यहीं वह बंध, क्लेश को पाता है और मरकर अशुभगति में जाता है, लोक में निन्दनीय होता है, अतः हिंसा से विरक्त होना कल्याणकारी है।⁴¹ हिंसा विरक्ति से मनुष्यायु का आस्रव होता है।⁴² प्राणिरक्षा को संयम भी माना है।⁴³ अतः अहिंसा आचरणीय है।

क्षमा

शरीर-यात्रा के लिए पर घर जाते समय भिक्षु को दुष्टजनों के द्वारा गाली, हँसी, अवज्ञा, ताड़न, शरीर-छेदन आदि क्रोध के असह्य निमित्त मिलने पर भी कलुषता का न होना उत्तम क्षमा है।⁴⁴ व्रत, शील का रक्षण, इहलोक और परलोक में दुःख का न होना और समस्त जगत् में सम्मान, सत्कार होना आदि क्षमा के गुण हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का नाश करना आदि क्रोध के दोष हैं; यह विचारकर क्षमा धारण करना चाहिए।⁴⁵ क्षमा को पद्मलेश्या का लक्षण माना गया है।⁴⁶

मार्दव

“मृदोभविः कर्म वा मार्दवम्, स्वभावेन मार्दवं स्वभाव मार्दवं⁴⁷ अर्थात् स्वाभाविक मृदु स्वभाव मार्दव है। उत्तम जाति, कुल, रूप, विज्ञान, ऐश्वर्य, श्रुतलाभ और शक्ति से युक्त होकर भी इनका मद नहीं करना, दूसरे के द्वारा पराभव के निमित्त उपस्थित किये जाने पर भी अभिमान नहीं होना मार्दव है।⁴⁸ निरभिमानी और मार्दवगुण युक्त व्यक्ति पर गुरुओं का अनुग्रह होता है। साधुजन भी उसे साधु मानते हैं। अहंकार समस्त विपदाओं की जड़ है।⁴⁹ अतः मार्दव भाव रखना चाहिए। मार्दव से मनुष्यायु का आस्रव होता है।⁵⁰

विनय

समस्त सम्पदायें विनयमूलक हैं; यह पुरुष का भूषण है। यह संसार-समुद्र से पार उतारने के लिए नौका के समान है।⁵¹ इसके चार भेद हैं - “ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः” अर्थात् ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय।⁵² ज्ञानलाभ, आचार विशुद्धि और सम्यग् आराधना आदि की सिद्धि विनय से होती है और अन्त में मोक्षसुख भी इसी से मिलता है अतः विनयभाव अवश्य ही रखना चाहिए।⁵³ विनय से सातावेदनीय⁵⁴ एवं मनुष्यायु⁵⁵ का आस्रव होता है।

आर्जव

मन, वचन और काय में कुटिलता न होना आर्जव अर्थात् सरलता है।⁵⁶ सरल हृदय गुणों का आवास है। मायाचारी की निन्द्यगति होती है।⁵⁷ साधुओं के विषय में कहते हैं कि अपने मन में दोषों को अधिक समय तक न रखकर निष्कपट वृत्ति से बालक की तरह सरलतापूर्वक दोष निवेदन करने में न तो ये दोष होते हैं और न अन्य ही।⁵⁸ आर्जव को सातावेदनीय⁵⁹ और मनुष्यायु⁶⁰ का आस्रव माना गया है।

सत्य

सत्जनों से साधुवचन बोलना सत्य है।⁶¹ सभी गुण-सम्पदायें सत्य वक्ता में प्रतिष्ठित होती हैं। झूठे का बंधुजन भी तिरस्कार करते हैं। उसके कोई मित्र नहीं रहते। जिह्वा-छेदन, सर्वस्व-हरण आदि दण्ड उसे भुगतने पड़ते हैं।⁶² सत्यवादिता, पीतलेश्या का लक्षण है।⁶³ सत्य, हित, मित बोलना शुभ वाग्योग है।⁶⁴ जो वचन पीड़ाकारी हैं वे भी अनृत हैं।⁶⁵ मिथ्याभाषी का कोई विश्वास नहीं करता। वह यहीं जिह्वाभेद आदि दण्ड भुगतता है। जिनके सम्बन्ध में झूठ बोलता है, वे भी उसके वैरी हो जाते हैं इसलिए उनसे भी अनेक आपत्तियाँ आती हैं, अतः असत्य बोलने से विरक्त होना कल्याणकारी है।⁶⁶

शौच

आत्यन्तिक लोभ की निवृत्ति को शौच कहते हैं। शुचि का भाव या कर्म शौच है। जो पूर्ण मनोनिग्रह में असमर्थ हैं उन्हें परवस्तुओं सम्बन्धी अनिष्ट विचारों की शान्ति के लिए शौच धर्म का उपदेश है। यह लोभ की निवृत्ति के लिए है।⁶⁷ शुचि आचार वाले निर्लोभ व्यक्ति का इस लोक में सम्मान होता है। विश्वास आदि गुण उसमें रहते हैं। लोभी के हृदय में गुण नहीं रहते। वह इस लोक और परलोक में अनेक आपत्तियों और दुर्गति को प्राप्त होता है।⁶⁸

दान

अनुग्रह के लिए धन का त्याग दान है - "अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्"⁶⁹ भट्ट अकलंकदेव के अनुसार - "स्वस्यपरानुग्रह-बुद्ध्या अतिसर्जनं दानम्" अर्थात् अपनी वस्तु का पर के अनुग्रह के लिए त्याग करना दान है।⁷⁰ पर की प्रीति के लिए अपनी वस्तु को देना त्याग है। आहार देने से पात्र को उस दिन प्रीति होती है। अभयदान से उस भव का दुःख छूटता है अतः पात्र को सन्तोष होता है। ज्ञानदान तो अनेक सहस्र भवों के दुःख से छुटकारा दिलाने वाला है; ये तीनों विधिपूर्वक दिये गये त्याग कहलाते हैं।⁷¹ किसी से विसंवाद न करना दाता की विशेषता है।⁷² दानशीलता मनुष्यायु का आस्रव है।⁷³

सन्तोष

जैसे पानी से समुद्र का बड़वानल शान्त नहीं होता उसी तरह परिग्रह से आशा-समुद्र की तृप्ति नहीं हो सकती। यह आशा का गड़वा दुष्पूर है इसका भरना कठिन है। प्रतिदिन जो उसमें डाला जाता है वही समाकर फिर मुँह बाने लगता है। शरीर आदि से ममत्वशून्य व्यक्ति परम सन्तोष को प्राप्त होता है।⁷⁴

अन्य मानवीय मूल्य

श्री भट्ट अकलंकदेव ने 'तत्त्वार्थवार्तिक' में विभिन्न प्रसंगों में अनेक मानवीय मूल्यों का उल्लेख किया है जिन्हें जीवन में स्थान देने से व्यक्ति में गुणात्मक विकास होता है; यथा - दृढ़ मित्रता, दयालुता, स्वकार्यपटुता, सर्वधर्मदर्शित्व, पाण्डित्य, गुरुदेवता पूजनरुचि, निर्वैर, वीतरागता, शत्रु के भी दोषों पर दृष्टि न देना, निन्दा न करना, पापकार्यों से उदासीनता, श्रेयोमार्ग रुचि⁷⁵, चैत्य-गुरु-शास्त्र-पूजा⁷⁶, प्रकृति भद्रता, सुखसमाचार कहने की रुचि, रेत की रेखा के समान

क्रोध आदि, सरल व्यवहार, अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह, दुष्टकार्यों से निवृत्ति, स्वागत-तत्परता, कम बोलना, प्रकृति-मधुरता, लोकयात्रानुग्रह, औदासीन्यवृत्ति, ईर्ष्यारहित परिणाम, अल्पसंक्लेश, कापोतपीत लेश्यारूप परिणाम, मरणकाल में धर्मध्यानपरिणति⁷⁷, कल्याणमित्र संसर्ग, आयतनसेवा, सद्धर्मश्रवण, स्वगौरवदर्शन, निर्दोष प्रोषधोपवास, तप की भावना, बहुश्रुतत्व, आगमपरता, कषायनिग्रह, पात्रदान, पीतपद्मलेश्या परिणाम⁷⁸ अविस्वादन, धार्मिक व्यक्तियों के प्रति आदर भाव, संसारभीरुता, अप्रमाद, निश्छलचारित्र⁷⁹, आत्मनिन्दा, परप्रशंसा, परसद्गुणोद्भावन, आत्म-असद्गुणच्छान, गुणीपुरुषों के प्रति विनयपूर्वक नम्रवृत्ति और ज्ञानादि होने पर भी तत्कृत उत्सेक-अहंकार न होना, पर का तिरस्कार न करना, अनौद्धत्य, असूया, उपहास-बदनामी आदि न करना, साधर्मी व्यक्तियों का सम्मान, उन्हें अभ्युत्थान अंजलि नमस्कार आदि करना।⁸⁰

इसप्रकार हम देखते हैं कि भट्ट अकलंकदेव ने मानवों को अपने नाम सदृश बनाने के लिए 'तत्त्वार्थवार्तिक' में पद-पद पर अनेकानेक मूल्यों की प्रतिष्ठापना की है और वे उन मूल्यों को मूल्यवान बनाने में समर्थ सिद्ध हुए हैं। आज के युग में जबकि हर क्षेत्र में मूल्यों का संकट है ऐसे समय में मानवीय मूल्यों की पहचान और उन्हें महत्ता प्रदान कर जीवन में स्थान देना होगा तभी मानव, मानव कहलाने के योग्य होगा। श्री त्रिपाठी के मत में, "आध्यात्मिकता और भौतिकता के समन्वित बोध से आज उस नयी मानवता की स्थापना संभव है जो संकट के इस समय अपने कल्याण का मार्ग पाने में समर्थ हो सकती है।"⁸¹ भट्ट अकलंकदेव भी मानव को उसे पूरा मानवीय बनाकर सिद्धत्व प्राप्त कराना चाहते हैं जो उनके बताये मार्ग पर चलने से अवश्य ही प्राप्त होगा। अंत में 'पंत' की इस भावना के साथ मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठापित करने की भावना के साथ विराम लेता हूँ -

आज हमें मानव मन को करना आत्मा के अभिमुख
मनुष्यत्व में मज्जित करने युग जीवन के सुख-दुख
पिघला देगी लौह पुष्टि को आत्मा की कोमलता
जन बल से रे कहीं बड़ी है मनुष्यत्व की क्षमता।⁸²

-
1. वृहत् हिन्दी कोश, पृष्ठ 888
 2. वही, पृष्ठ 912
 3. हिन्दी कविता, संवेदना और दृष्टि : राममनोहर त्रिपाठी, पृष्ठ 50
 4. मानव मूल्य और साहित्य : धर्मवीर भारती, भूमिका-2
 5. तत्त्वार्थवार्तिक, 5.20.5
 6. वही, 1.3 (मंगलाचरण)
 7. वही, 4.26.3
 8. वही, 2.50.1
 9. मानव मूल्य और साहित्य, भूमिका-1

10. मानव मूल्य और साहित्य, पृष्ठ 4
11. वही, पृष्ठ 21
12. हिन्दी कविता, संवेदना और दृष्टि, पृष्ठ 45
13. मानव मूल्य और साहित्य, पृष्ठ 21
14. 'हंस' के अप्रैल 1939 के अंक में प्रकाशित कविता, अज्ञेय
15. तत्त्वार्थवार्तिक 1.1
16. तत्त्वार्थसूत्र 1.1
17. तत्त्वार्थवार्तिक 7.21.26
18. तत्त्वार्थसूत्र 5.21
19. तत्त्वार्थवार्तिक 5.21.1-2
20. वही, 7.38.1
21. सर्वार्थसिद्धि 7.11.683
22. तत्त्वार्थवार्तिक, 7.11.1
23. वही, 7.11.8
 भावसाम्य देखिए - खम्मामि सव्व जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
 मित्ती मे सव्व भूदेसु, वैरं मज्झं ण केण वि ॥ - मूलाचार, गाथा 43
24. तत्त्वार्थवार्तिक 7.11.1-4
25. वही, 7.11.5-7
26. वही, 1.2.30
27. वही, 6.12.3
28. वही, 7.11.3
29. वही, 7.11.5-8
30. सर्वार्थसिद्धि, 7.11.683
31. तत्त्वार्थवार्तिक, 7.11.1-4
32. वही, 7.11.5-7
33. वही, 6.24.1
34. वही, 6.24.13
35. वही, 6.24.9
36. वही, 6.12.13
37. वही, 6.3.1-2
38. वही, 7.1.6
39. वही, 7.13.6-11
40. वही, 8.1.13-14
41. वही, 7.9.2
42. वही, 6.17
43. वही, 6.12.6
44. वही, 9.6.2
45. वही, 9.6.27
46. वही, 4.22.10
47. वही, 6.18.1

48. तत्त्वार्थवार्तिक, 9.6.3
49. वही, 9.6.27
50. वही, 6.17
51. वही, 9.6.16
52. वही, 9.23.1-7
53. वही, 9.23.7
54. वही, 6.12.13
55. वही, 6.17
56. वही, 9.6.4
57. वही, 9.6.27
58. वही, 9.22.2
59. वही, 6.12.13
60. वही, 6.17
61. वही, 9.6.9-10
62. वही, 9.6.27
63. वही, 4.22.10
64. वही, 6.3.2
65. वही, 7.14.5
66. वही, 7.9.2
67. वही, 9.6.5-8
68. वही, 9.6.27
69. तत्त्वार्थसूत्र 7.38
70. तत्त्वार्थवार्तिक 6.12.4
71. वही, 6.24.6
72. वही, 7.39.4
73. वही, 6.17
74. वही, 9.6.27
75. वही, 4.22.10
76. वही, 6.5.7, 6.12.13, 6.17
77. वही, 6.17
78. वही, 6.20
79. वही, 6.23
80. वही, 6.26.1-4
81. हिन्दी कविता संवेदना और दृष्टि, पृष्ठ 47
82. स्वर्णधूलि

अकलंकदेव कृत पुण्य और पाप का विवेचन

— डॉ. सूरजमुखी जैन



जैनदर्शन में पुण्य और पाप को क्रिया न मानकर पदार्थ माना गया है। शुभ परिणामों से युक्त मन-वचन-काय की क्रिया से पुण्यरूप पुद्गल वर्गणाओं का आस्रव होता है और अशुभ परिणामों से युक्त मन-वचन-काय की क्रिया से पापरूप पुद्गलवर्गणाओं का आस्रव होता है। यही पुण्य और पापरूप पुद्गलवर्गणाएं मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय के कारण आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होकर उसे सुख तथा दुःखरूप फल देती हैं।¹ यही पुण्य और पाप कर्म हैं।

पुण्य तथा पाप का विश्लेषण करते हुए अकलंकदेव कहते हैं - 'पुनात्यात्मानं, पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्' - जो आत्मा को प्रसन्न करे अथवा जिसके द्वारा आत्मा सुख-साता का अनुभव करे, वह सातावेदनीय आदि पुण्य हैं। 'तत्प्रतिद्वन्द्विरूपम् पापम्' उसके विपरीत जो आत्मा में शुभ परिणाम न होने दे, जिसके कारण आत्मा को दुःख का अनुभव हो, वह असातावेदनीय आदि पाप हैं।²

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है - 'कायवाङ्मनः कर्मयोगः', 'सः आस्रवः', 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य'³ मन-वचन-काय की क्रियाएँ योग हैं, योग आस्रव का कारण है, अतः योग ही आस्रव है, शुभयोग पुण्यास्रव का कारण है और अशुभयोग पापास्रव का कारण है। 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य' सूत्र की व्याख्या करते हुए अकलंकदेव कहते हैं - 'प्राणातिपाता-दत्तादानमैथुनप्रयोगादिरशुभः काययोगः। अनृतभाषणपरुषासत्यवचनादिरशुभो

वाग्योगः। वधचिन्तनेर्ष्यासूयादिरशुभो मनोयोगः।⁴ जीवहिंसा, चोरी, मैथुनादि अशुभ काययोग हैं; असत्य वचन, कठोर भाषण आदि अशुभ वचनयोग हैं; और किसी को मारने का विचार करना, ईर्ष्या, असूया आदि के भाव अशुभ मनोयोग हैं। 'तस्मादनन्तविकल्पादशुभयोगादन्यः शुभयोगः इत्युच्यते। तद्यथा अहिंसाऽस्तेयब्रह्मचर्यादिः शुभकाययोगः सत्यहितमितभाषणादि शुभो वाग्योगः, अर्हदादिभक्तितपोरुचि श्रुतविनयादिः शुभो मनोयोगः।⁵ अनन्त विकल्पवाले अशुभयोग के विपरीत शुभयोग हैं। अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्यादि शुभ काययोग हैं; सत्य हितमित प्रियवचन शुभ वचनयोग हैं; अर्हत आदि की भक्ति, तप में रुचि, शास्त्रविनय आदि शुभ मनोयोग हैं।

शुभ तथा अशुभ योग को स्पष्ट करते हुए अकलंकदेव कहते हैं - 'शुभाशुभ परिणामनिर्वृत्त-त्वाच्छुभाशुभव्यपदेशः' 'शुभ परिणामनिर्वृत्तयोगः शुभः, अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभः इति कथ्यते, न शुभाशुभकर्मकारणत्वेन।'⁶

शुभ परिणाम से युक्त योग शुभ तथा अशुभ परिणाम से युक्त योग अशुभ है, केवल शुभाशुभ कार्य के कारण योग को शुभ अथवा अशुभ नहीं माना गया है।

पुण्यास्रव तथा पापास्रव का विवेचन करते हुए अष्टशती में वे कहते हैं -

**आत्मनः परस्य वा सुखदुःखयोर्विशुद्धिसंक्लेशाङ्गयो-
रेव पुण्यपापास्रवहेतुत्वं न चान्यथातिप्रसङ्गात्॥⁷**

विशुद्ध परिणाम तथा संक्लेश परिणाम के कारण अपने तथा दूसरे को दिये जानेवाले सुख-दुःख ही पुण्यास्रव तथा पापास्रव के कारण होते हैं। विशुद्ध परिणाम के कारण अपने तथा दूसरे को दिये जानेवाले सुख और दुःख पुण्यास्रव के कारण होते हैं और संक्लेश परिणाम के कारण अपने तथा दूसरे को दिये जानेवाले सुख-दुःख पापास्रव के कारण होते हैं। परिणामों में विशुद्धि तथा संक्लेश नहीं होने पर अपने अथवा दूसरों को सुख तथा दुःख होने पर भी पुण्यास्रव अथवा पापास्रव नहीं होते। यदि विशुद्धि और संक्लेश के अभाव में भी पुण्यास्रव और पापास्रव माने जायेंगे तो अचेतनकंटकादि तथा वीतरागी मुनि को भी बंध मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में किसी को भी मोक्ष नहीं हो सकेगा। वे कहते हैं -

'परज सुखदुःखोत्पादनात् पुण्यपापबन्धैकान्ते कथमचेतनाः क्षीरादयः कण्ठकादयो वा न बध्येरन्। आत्मसुखदुःखाभ्याम् पापैतरैकान्त कृतान्ते पुनरकषाय स्यापि ध्रुवमेव बन्धः स्यात्। ततो न कश्चिन्मोक्तमुर्हति, तदुभयाभावासांभवात्'।⁸

संक्लेश क्या है? और विशुद्धि क्या है? इसे बताते हुए वे कहते हैं -

'आर्तरौद्रध्यानपरिणामः संक्लेशस्तदभावो विशुद्धिरात्मनः स्वात्मन्यवस्थानम्'।⁹

आर्त और रौद्रध्यानरूप परिणाम संक्लेश हैं और इनका अभाव होने पर अपने स्वरूप में स्थित होना विशुद्धि है। अतः आर्तरौद्र परिणामों से युक्त मन-वचन-काय की क्रिया पापास्रव का कारण है और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान से युक्त मन-वचन-काय की क्रिया पुण्यास्रव का कारण है।

इसी भाव को आचार्य कुन्दकुन्द ने भी पंचास्तिकाय में व्यक्त किया है। वे कहते हैं -

**सुहपरिणामो पुण्यं असुहो पावं ति हवदि जीवस्स।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो।¹⁰**

जीव के सत्क्रियारूप शुभ परिणाम भावपुण्य हैं और अशुभ परिणाम भावपाप हैं। इन भावपुण्य और भावपाप का निमित्त पाकर पुद्गल वर्गणाएँ ज्ञानावरणादि पुण्य और पापकर्मरूप परिणत होती हैं।

पुण्यास्रव और पापास्रव किन परिणामों से होते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं -

**रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्तप्हि णत्थि कलुसं पुण्यं जीवस्स आसवादि।¹¹**

जिसके प्रशस्त राग हैं, दयायुक्त परिणाम हैं, चित्त में कलुषता नहीं है; उस जीव के पुण्य कर्म का आस्रव होता है। और

**चरियापमादबहुलां कालुस्सं लोलदा या विसएसु।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि।¹²**

जिसके कार्य प्रमाद सहित होते हैं, चित्त में कलुषता होती है, विषयों की लोलुपता होती है, दूसरों को कष्ट देने के भाव होते हैं; उसके पापकर्म का आस्रव होता है।

पुण्य प्रकृतियाँ 42 और पाप प्रकृतियाँ 82 हैं। अकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिक में कहते हैं - शुभायुस्त्रिविधम्। तिर्यगायुः, मनुष्यायुः, देवायुः। शुभनाम सप्तत्रिंशद्विकल्पम्। तद्यथा मनुष्यगतिः, देवगतिः, पंचेन्द्रिय जातिः, पंच शरीराणि, त्रीण्यंगोपांगानि, समचतुस्रसंस्थानम्, वज्रवृषभनाराचसंहननम्, प्रशस्त वर्णगन्धरसस्पर्शाः, मनुष्यगतिदेवगत्यानुपूर्व्यद्वयम्, अगुरुलघु, परघातोच्छ्वासः। उद्योतप्रशस्तविहायोगतयः त्रसबादरपर्याप्तिप्रत्येकशरीरस्थिरशुभसुभगसुस्वर, आदेय यशःकीर्तयः निर्माणं, तीर्थकर नाम चेति। शुभमेकमुच्चर्गात्रम्। सद्देहमित्येता द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतयः पुण्यसंज्ञा इति।¹³

आदेय, यशः कीर्तयः तिर्यच आयु, मनुष्य आयु और देवायु - तीन आयु, मनुष्यगति-देवगति-पंचेन्द्रिय जाति, पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण-गन्ध-रस और स्पर्श, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण तथा तीर्थकर 37 नाम कर्म की प्रकृतियाँ, शुभ गोत्र तथा साता वेदनीय ये 42 पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

अस्मात् पुण्यसंज्ञककर्मप्रकृति समूहादन्यत्कर्म पापकमित्युच्यते। तद्द्वयशीतिविधम्। तद्यथा ज्ञानावरणप्रकृतयः पञ्च, दर्शनावरणस्य नव, मोहनीयस्य षड्विंशतिः, पञ्चान्तरायस्य, नरकगतिः, तिर्यगगतिः, चतस्रो जातयः, पंच संस्थानानि, पंच संहननानि, अप्रशस्त-

वर्णगन्धरसस्पर्शाः, नरकतिर्यग्गत्यानुपूर्व्यद्वयम्, उपघाताऽप्रशस्तविहायोगति स्थावर सूक्ष्माऽपर्याप्त असाधारण शरीराऽस्थिराऽशुभ दुर्भगदुःस्वराऽनोदयायशः कीर्तयश्चेति नाम प्रकृतयः चतुस्त्रिंशत्, असद्वेद्यम्, नरकायुः, नीचैर्गोत्रमिति।¹⁴

पुण्य प्रकृतियों से भिन्न 82 पाप प्रकृतियाँ हैं - ज्ञानावरण की 5, दर्शनावरण की 9, मोहनीय की 26, अन्तराय की 5, नरकगति तिर्यचगति एकेन्द्रियादि 4 जाति, 5 संस्थान, 5 संहनन, अप्रशस्तवर्णगन्धरस और स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, असाधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति इस प्रकार नामकर्म की 34 प्रकृतियाँ, असातावेदनीय, नरकायु तथा नीच गोत्र।

जैसे लोहे की बेड़ी और सोने की बेड़ी दोनों ही परतन्त्रता (बन्धन) के कारण हैं उसीप्रकार पुण्य और पाप दोनों ही कर्म आत्मा की परतन्त्रता के कारण हैं। चाहे कोई लोहे की बेड़ी से बंधा हो या सोने की बेड़ी से, जब तक बेड़ी को नहीं काटेगा, स्वतन्त्र नहीं हो सकता। उसी प्रकार जब तक पुण्य और पाप दोनों कर्मों का संपूर्ण क्षय नहीं होगा, तब तक जीव को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।¹⁵ जीव का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है, मोक्ष के बिना शाश्वत और निराकुल सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।¹⁶ अतः मुमुक्षु जीव को बन्धन की दृष्टि से दोनों को समान समझकर दोनों को क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिये।

जोइन्दु मुनि कहते हैं -

जो णवि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ।
सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ॥¹⁷

जो जीव पुण्य और पाप दोनों को समान समझकर उनसे बचने का प्रयत्न नहीं करता, वह अज्ञान के कारण चिरकाल तक संसार में भटकता हुआ दुःख सहता रहता है।

पुण्य और पाप का फल बताते हुए जोइन्दु कहते हैं -

पावें णारउ तिरिउ जिउ पुण्णें अमरु वियाणु।
मिस्सें माणुसगइ लहइ दोहिं वि खइ णिव्वाणु॥¹⁸

पाप से नरक तथा तिर्यच गति मिलती है, पुण्य से देवगति की प्राप्ति होती है, पुण्य-पाप दोनों के होने पर मनुष्य गति मिलती है, किन्तु निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति तो पुण्य और पाप दोनों के क्षय होने पर ही होती है।

आचार्य विद्यानन्दि भी अष्टसहस्री में कहते हैं - 'नहि पुण्यपापोभयबन्धाभावासंभवे मुक्तिर्नाम संस्रतेरभावप्रसंगात्।'¹⁹

परतन्त्रता की दृष्टि से पुण्य और पाप दोनों में कोई भेद नहीं है, मोक्षप्राप्ति के लिए दोनों का त्याग आवश्यक है, फिर भी संसारी जीव के लिए पाप की अपेक्षा पुण्य उपादेय है। क्योंकि

पुण्य से इष्ट फल की प्राप्ति होती है जो सुख का कारण है और पाप से अनिष्ट फल की प्राप्ति होती है जो दुःख का कारण है। अकलंकदेव कहते हैं “इष्टानिष्टनिमित्तभेदात्तद्भेदसिद्धेः। यदिष्ट गति जाति शरीरेन्द्रियविषयादिनिर्वर्तकः तत्पुण्यम्। अनिष्ट गति जाति शरीरेन्द्रियविषयादि-निर्वर्तकं यत्रत्पापमित्यनयोरयंभेदः।”²⁰

मिथ्यादृष्टि के पुण्य को लक्ष्य कर जोइन्दु मुनि कहते हैं कि पुण्य से सांसारिक वैभव और सुख की प्राप्ति होती है, वैभव से मद (अहंकार) हो जाता है, अहंकार से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और बुद्धि भ्रष्ट होने से जीव पाप की ओर अग्रसर हो जाता है, अतः ऐसा पुण्य हमारे न हो। क्योंकि वह पुण्य अनन्तः दुःख का ही कारण है -

**पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मइमोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह या होउ।”²¹**

श्री ब्रह्मदेव ने संस्कृत टीका में स्पष्ट किया है कि पुण्य से मदादि मिथ्यादृष्टि के ही होते हैं, सम्यक्त्वी के नहीं, वे कहते हैं -

‘इदं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंध-परिणामसहितेन जीवने यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव मदमहंकारं जनयति बुद्धिविनाशं च करोति। न च पुनः सम्यक्त्वादिगुणसहितं भरतसगररामपाण्डवादिपुण्य बंधवत्।’ यदि पुनः सर्वेषां मदं जनयति तर्हि ते कथं पुण्यभाजनाः सन्तो मदाहंकारादि विकल्पं त्यक्त्वा मोक्षं गता इति भावार्थः।²²

भेदाभेद रत्नत्रय की आराधना से रहित मिथ्यादृष्टि जीव ने देखे, सुने तथा भोगे हुए भोगों की वांछारूप निदानबंध के परिणामों सहित पूर्वभव में जो पुण्य उपार्जित किया है उससे उसे मद होता है और उसकी बुद्धि भ्रष्ट होती है; भरत, सगर, राम, पाण्डव आदि सम्यक्त्वी जीवों के नहीं। यदि सभी का पुण्य मद का कारण होता तो भरतादि पुण्यशाली व्यक्ति अहंकारादि विकारों को त्याग कर मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते।

मिथ्यादृष्टि का पुण्य अशुभोपयोग और अशुभ लेश्या से युक्त होने के कारण पापानुबंधी निरतिशय पुण्य है, जो संसार का कारण होने से त्याज्य है। सम्यक्दृष्टि का पुण्य शुभोपयोग और शुभ लेश्यादि से युक्त होने के कारण सातिशय पुण्यानुबंधी पुण्य है जो सांसारिक ऐश्वर्य में राग उत्पन्न नहीं करता अपितु उत्तम द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को उपलब्ध कराकर परम्परा से मोक्ष का कारण होता है।

**सम्माइट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेड जइ वि णियाणं ण सो कुठाइ।”²³**

लौकिक सुख की प्राप्ति के लिए तो पुण्य आवश्यक है ही, मोक्षप्राप्ति के लिए भी सातिशय पुण्य आवश्यक है। आचार्य विद्यानन्द कहते हैं - ‘मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशय चारित्र विशेषात्मकपौरुषाम्यामेवसिद्धेः।’²⁴

उत्तम संहनन (वज्रवृषभनाराच संहनन) की प्राप्ति प्रकृष्ट पुण्य से ही होती है, जिसके बिना परमशुक्लध्यान नहीं हो सकता।²⁵

समयसार के पुण्यपापाधिकार में आचार्य जयसेन ने भी सम्यक्त्वी के पुण्य को परम्परा से मोक्ष का कारण कहा है। आचार्य उमास्वामी ने भी पुण्य के कारण धर्मध्यान और शुक्लध्यान को मोक्ष का कारण कहा है।²⁶

आत्मानुशासन में गुणभद्राचार्य कहते हैं -

अशुभाच्छुभमायात् शुद्धः स्यादयमागतम् ।
रवेरप्राप्तसंध्यास्य तमसो न समुद्गमः ॥²⁷

केवलज्ञानरूपी ज्योति का धारक आत्मारूपी सूर्य अनादिकाल से अज्ञानरूपी रात्रि में भ्रमण कर रहा है, उस मोहादिरूप रात्रि के गहन अन्धकार से मुक्त होकर शुद्ध प्रकाशपूर्ण सिद्धावस्था की प्राप्ति के लिए पहले अशुभरूपी गहन अन्धकार को चीरकर शुभरूपी लालिमायुक्त प्रातःकाल को प्राप्त करना होगा। तदुपरान्त ही रत्नत्रयरूपी तेज से शुद्ध प्रकाशयुक्त शुद्धोपयोगरूपी दिन में प्रवेश किया जा सकेगा। सूर्य भी सन्ध्या (प्रभातकाल) को प्राप्त किये बिना अन्धकार का विनाश नहीं कर सकता।

अतः निश्चयनय से मोक्ष प्राप्ति के लिए पुण्य-पाप दोनों त्याज्य हैं, किन्तु व्यवहारनय से पाप को त्याग कर पुण्य उपार्जन किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः पहले पाप को त्याग कर पुण्य का उपार्जन करना चाहिये, जिससे मोक्षप्राप्ति का साधन उत्तम गति, उत्तम कुल, उत्तम शरीर, उत्तम संहनन और उत्तम श्रुत का समागम प्राप्त हो। उत्तम गति आदि साधन के प्राप्त होते ही पुण्य और पाप दोनों को हेय समझते हुए संसार, शरीर, भोगों को तुच्छ मानकर समस्त विकल्पों से मुक्त हो परमसमाधि (परमशुक्लध्यान) में निमग्न होकर दुस्तर संसार-सागर के पार पहुँचने का यत्न करना चाहिये। यही जीव का चरम लक्ष्य है। धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में मोक्ष पुरुषार्थ को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है,²⁸ जो पुण्य-पाप दोनों के क्षय से ही प्राप्त हो सकता है।

1. मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्ध हेतवः, उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 8, सूत्र 1
2. अकलंकदेव, तत्त्वार्थवार्तिक, द्वितीय भाग, पृष्ठ 507
3. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 6, सूत्र 1,2,3
4. अकलंकदेव, तत्त्वार्थवार्तिक, द्वितीय भाग, पृष्ठ 507
5. वही, पृष्ठ 507
6. वही, पृष्ठ 507
7. अकलंकदेव, अष्टसहस्री, पृष्ठ 260
8. वही, पृष्ठ 259
9. वही, पृष्ठ 259

10. आचार्य कुन्दकुन्द, पंचास्तिकाय, गाथा 132
11. वहीं, गाथा 135
12. वहीं, गाथा 138
13. तत्त्वार्थवार्तिक, भाग 2, पृष्ठ 586, अध्याय 8, सूत्र 25
14. वहीं, भाग 2, पृष्ठ 586, अध्याय 8, सूत्र 26
15. उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 10, सूत्र 2
16. जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, अध्याय 2, दोहा 2
17. वहीं, दोहा 55
18. वहीं, दोहा 63
19. विद्यानन्दि, अष्टसहस्री, पृष्ठ 259
20. अकलंकदेव, तत्त्वार्थवार्तिक, भाग 2, पृष्ठ 507, अध्याय 6
21. जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, अध्याय 2, दोहा 60
22. ब्रह्मदेव, परमात्मप्रकाश, अध्याय 2, दोहा 60 की टीका
23. देवसेन, भावसंग्रह, 404
24. आचार्य विद्यानन्दि, अष्टसहस्री, पृष्ठ 257
25. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तमुहूर्तात्। उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 9, सूत्र 27
26. परेमोक्ष-हेतु, वहीं, अध्याय 9, श्लोक 29
27. गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक 122
28. धम्महं, अत्थहं, कामहं वि एयहं सयलदं मोक्खु।
उत्तमपभणदिं णाणि जिय अण्णं जेण ण सोक्खु।
जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, अध्याय 2, दोहा 3

अलका, 35 इमामबाड़ा
मुजफ्फरनगर

वैयावृत्य

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसङ्घसाधुमनोज्ञानाम् ।

वैयावृत्यमित्यनुवृत्तेः प्रत्येकमभिसम्बन्धः ॥ 1 ॥ वैयावृत्यमित्यनुवर्तते तेन प्रत्येकमभिसंबन्धोः भवति आचार्यवैयावृत्यमुपाध्यायवैयावृत्यमित्यादि ।

व्यावृत्तस्य भावः कर्म च वैयावृत्यम् ॥ 2 ॥ कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण वा व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्यमित्युच्यते ।

तेषां व्याधिपरीषहमिथ्यात्वाद्युपनिपाते तत्प्रतीकारो वैयावृत्यम् ॥ 15 ॥ तेषामाचार्यादीनां व्याधिपरीषहमिथ्यात्वद्युपनिपाते प्रासुकौषधिभक्तपानप्रतिश्रयपीठ-फलकसंस्तरणादिभिर्धर्मोपकरणैस्तत्प्रतीकारः सम्यक्त्वप्रत्यवस्थापनमित्येवमादि वैयावृत्यम् ।

बाह्यद्रव्यासंभवे स्वकायेन तदानुकूल्यानुष्ठानं च ॥ 16 ॥ बाह्यस्यौषधभक्त-पानादेरसंभवेऽपि स्वकायेन श्लेष्मसिङ्घाणकाद्यन्तर्मलापकर्षणादि तदानुकूल्यानुष्ठानं च वैयावृत्यमिति कथ्यते ।

- तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9.24

कायचेष्टा या अन्य द्रव्यों से व्यावृत्त पुरुष का भाव या कर्म वैयावृत्त है । 1-2 ।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ - इन पर व्याधि-परीषह-मिथ्यात्व आदि का उपद्रव होने पर उसका प्रासुक औषधि, आहार-पान, आश्रय, चौकी, तख्ता और संस्तरण (शैया) आदि धर्मोपकरणों से प्रतीकार करना तथा सम्यक्त्वमार्ग में दृढ़ करना वैयावृत्य है । औषध आदि के अभाव में अपने हाथ से खकार-नाक आदि भीतरी मल को साफ करना और उनके अनुकूल वातावरण को बना देना आदि भी वैयावृत्य है ।

अनु. - प्रो. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु ज्ञान का विषय

— डॉ. राजकुमारी जैन



जैन साहित्य के इतिहास में अकलंकदेव वे युगप्रवर्तक आचार्य हैं जिन्होंने जैन ज्ञानमीमांसा का सुव्यवस्थित और सर्वांगीण विकास किया है। जहाँ समन्तभद्राचार्य ने प्रमुख तत्वमीमांसीय समस्याओं का अनेकान्तात्मक समाधान प्रस्तुत किया है वहीं अकलंकदेव ने ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान से अनेकान्तात्मक स्वरूप को प्रतिपादित कर समन्तभद्राचार्य द्वारा व्याख्यायित सिद्धान्तों को परिपूर्णता प्रदान की है। उनका “द्रव्य-पर्यायात्मक अर्थ ज्ञान का विषय” विषयक सिद्धान्त इसका एक ज्वलन्त प्रमाण है। उनके इस विषय से सम्बन्धित कथन अत्यन्त गूढ़ और गम्भीर हैं। अतः यहाँ हम उनके टीकाकारों - विद्यानन्दि, वादिराज आदि की सहायतापूर्वक उनके “द्रव्य-पर्यायात्मक अर्थ ज्ञान का विषय” सिद्धान्त को समझने का प्रयास कर रहे हैं।

हम एक वस्तु को उसकी अनेक विशेषताओं या धर्मों के ज्ञानपूर्वक जानते हैं। हरित वर्ण, विशेष आकार आदि गुणों के ज्ञानपूर्वक हम एक द्रव्य को तथा तना, शाखाओं, पत्तों आदि अवयवों के ज्ञानपूर्वक हम एक अवयवी वृक्ष को जानते हैं। ज्ञान का यह स्वरूप हमारे समक्ष ज्ञेय पदार्थ के एकानेकात्मक स्वरूप को प्रस्तुत करता है जो विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के लिए एक बहुत बड़ी समस्या है। वे कहते हैं कि एक और अनेक परस्पर विरोधी धर्म हैं। अतः कोई भी वस्तु एकसाथ इन दो स्वरूपों से युक्त नहीं हो सकती। इसलिये बौद्ध दार्शनिक सत्ता को मात्र धर्मरूप, अद्वैत वेदान्ती उसे मात्र धर्मरूप, तथा न्याय-वैशेषिक उसे परस्पर निरपेक्ष धर्म और धर्मरूप स्वीकार करते हैं। इन सभी के अनुसार इनके द्वारा मान्य सत्ता के स्वरूप का

साक्षात्कार इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के प्रथम क्षण में तथा समाधि की अवस्था में होनेवाले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा होता है। यद्यपि सविकल्पक ज्ञान वस्तु को उसके अनेक धर्मों द्वारा और इसलिये एकानेकात्मक रूप में ही जानता है लेकिन बौद्ध और अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह ज्ञान अनादिकालीन अज्ञानजनित है और इसलिये यह परमार्थतः सत्य न होकर मिथ्या है।

अकलंकदेव विभिन्न दर्शनों की उपर्युक्त मान्यताओं को अस्वीकार करते हुए ज्ञेय पदार्थ के धर्मधर्म्यात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार न केवल अनुमान और शब्द प्रमाण बल्कि प्रत्यक्ष भी सदैव सविकल्प ही होता है। प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष विशद और साकार (सविकल्पक) ज्ञान है। इसका विषय द्रव्यपर्यायात्मक, सामान्य-विशेषात्मक वस्तु होती है।¹ आचार्य का “द्रव्यपर्यायात्मक अर्थ ज्ञान का विषय” से क्या अभिप्राय है यह समझने के लिये हम द्रव्य और पर्याय शब्दों के अर्थ पर विचार करें।

‘द्रव्य’ और ‘पर्याय’ शब्द के अर्थ

जैन दर्शन के अनुसार जो भी सत् है वह एक-अनेकात्मक, भेद-अभेदात्मक, सामान्य-विशेषात्मक, नित्य-अनित्यात्मक वस्तु है। प्रस्तुत सन्दर्भ में ‘द्रव्य’ शब्द एक वस्तु के एक, अभेद, सामान्य, नित्य आदि स्वरूप का पर्यायवाची है तथा ‘पर्याय’ शब्द का प्रयोग वस्तु के अनेकात्मक, भेदात्मक, विशेषात्मक, अनित्यात्मक आदि पक्षों के वाचक के रूप में किया जाता है। इस प्रकार सत्ता के द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप का अर्थ है उसका एक-अनेकात्मक, भेद-अभेदात्मक आदि स्वरूप से युक्त होना। यहाँ शंका की जा सकती है कि सत्ता को तो द्रव्यगुणपर्यायात्मक स्वीकार किया गया है फिर उसे द्रव्यपर्यायात्मक क्यों कहा जा रहा है? इसके उत्तर में अकलंकदेव कहते हैं -

द्रव्य सामान्य विशेष उभयात्मक है। यहाँ पर द्रव्य, सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय, गुण ये एकार्थक शब्द हैं। विशेष, भेद, पर्याय ये सब ‘पर्याय’ शब्द के अर्थ हैं।

अथवा गुण ही पर्याय है। अर्थात् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ही पर्याय है। इस प्रकार पर्याय से भिन्न गुण नहीं है। इसलिये गुण ही पर्याय है।²

अन्यत्र अकलंकदेव कहते हैं - जो अनुगताकार या एकल बुद्धि का आधार है वह द्रव्य तथा जो व्यावृत्ताकार या भेद बुद्धि का आधार है वह पर्याय है।³

सिद्धविनिश्चय के टीकाकार कहते हैं - ‘पर्याय’ शब्द का प्रयोग कभी धर्म, कभी अंश और कभी एकदेश के रूप में किया जाता है।⁴ इसके विपरीत ‘द्रव्य’ शब्द धर्मी, अंशी, समग्र का पर्यायवाची है।

द्रव्य-पर्यायात्मक अर्थ ज्ञान का विषय

ज्ञान का विषय सदैव द्रव्यपर्यायात्मक, एकानेकात्मक, भेद-अभेदात्मक, सामान्य-विशेषात्मक सत्ता होती है। हम अनेक सहवर्ती गुणों के ज्ञानपूर्वक एक गुणी को, अनेक क्रमवर्ती पर्यायों के ज्ञानपूर्वक एक पर्यायी या द्रव्य को तथा अनेक अवयवों के ज्ञानपूर्वक एक अवयवी

को जानते हैं। ऐसा इसलिये होता है कि एक वस्तु के अनेक गुण, पर्याय, अवयव आदि क्रमशः गुणी, पर्यायी और अवयवी के विभिन्न अंश हैं, धर्म हैं, स्वभाव हैं तथा गुणी अपने अनेक गुण आदि में व्याप्त एक अखण्ड सत्ता है। दूसरे शब्दों में एक द्रव्य के अनेक सहवर्ती स्वभाव उसके विभिन्न गुण हैं। इन अनेक गुणों में नाम, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद होने पर भी सत्तापेक्षया अभेद हैं। उनका यह पारस्परिक तादात्म्य ही उनकी एक द्रव्यरूपता है। तादात्म्य = तत + आत्म्य अर्थात् ये परस्पर एक-दूसरे की आत्मा या स्वभाव होते हुए, एक दूसरे में अन्तर्व्याप्त होते हुए एक द्रव्यरूपता को प्राप्त कर रहे हैं।⁵ इस प्रकार द्रव्य और गुण दो भिन्न-भिन्न सत्ता न होकर संज्ञादि की अपेक्षा परस्पर भिन्न होने पर भी एक ही सत्ता है। सत्तापेक्षया द्रव्य और गुण में अभेद होने के कारण न केवल एक द्रव्य का आत्मा या स्वभाव उसके समस्त गुण हैं बल्कि एक गुण का स्वभाव भी उसका आश्रयभूत सम्पूर्ण द्रव्य है। इस प्रकार सत्ता मात्र गुणरूप, मात्र द्रव्यरूप या मात्र परस्पर निरपेक्ष गुण-गुणीरूप न होकर गुणगुण्यात्मक स्वरूप में अवस्थित है। जिस प्रकार संज्ञादि की अपेक्षा परस्पर भिन्न-भिन्न अनेक गुण ही परस्पर तादात्म्य सम्बन्धपूर्वक एक द्रव्यरूपता को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार संज्ञा आदि की अपेक्षा भिन्न-भिन्न अनेक अवयव परस्पर संयोग सम्बन्धपूर्वक एक अवयवीरूपता को प्राप्त करते हैं।

सत्ता के इस एक-अनेकात्मक, भेद-अभेदात्मक स्वरूप के कारण ज्ञान सदैव धर्म-धर्म्यात्मक स्वरूप लिये हुए होता है तथा उसका विषय सदैव द्रव्यपर्यायात्मक, गुणगुण्यात्मक, अवयव-अवयव्यात्मक, पर्यायपर्यायात्मक सत्ता होती है।

प्रत्यक्ष अनुमानादि सभी प्रमाणों द्वारा एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक वस्तु ही ज्ञात होती है। बौद्ध कहते हैं कि धर्मधर्मी भाव में युक्त सविकल्पक ज्ञान परमार्थतः सत्य न होकर अनादि वासनाजनित मानसिक कल्पना मात्र है। प्रत्यक्ष मात्र धर्म को ही जानता है। उदाहरण के लिए चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा मात्र एक गुण-रूप का ही प्रत्यक्ष होता है। उस एक गुण के ज्ञानपूर्वक होनेवाला रूप, रसादि अनेक गुणात्मक द्रव्य घट को ज्ञात कहना यथार्थ ज्ञान न होकर अनादि वासनाजनित कल्पना मात्र है। यथार्थ ज्ञान का विषय एक-अनेक स्वभावी सत्ता न होकर मात्र एक स्वभावी सरल धर्म है। अकलंकदेव इस मत को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष सदैव सविकल्पक (विशेष-विशेष्य भाव से युक्त) ही होता है तथा उसका विषय द्रव्यपर्यायात्मक, सामान्य-विशेषात्मक वस्तु होती है।⁶ प्रत्यक्ष का विषय रूप, रस आदि कोई एक गुण न होकर अनेक गुणात्मक द्रव्य होता है।⁷ हम चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा मात्र एक सरल गुण रूप को न जानकर अस्तित्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, पृथुबुध्नाकार मय रूप को जानते हैं। इन गुणों में स्वभाव-भेद होने पर भी सत्तापेक्षया अभेद होने के कारण ये एक द्रव्य हैं इसलिये इनके ज्ञानपूर्वक एक द्रव्य को ज्ञात कहा जाता है। इन गुणों में पृथुबुध्नाकार वह असाधारण धर्म है जो इस सत्ता को अघट से पृथक् एक ऐसा विशिष्ट स्वरूप प्रदान कर रहा है जिसके होने पर पदार्थ को घट ही कहा जाता है। इसलिये विशेषता के ज्ञानपूर्वक द्रव्य के प्रति 'घट' इस विशिष्ट बुद्धि की उत्पत्ति होती है। कुछ गुणों के ज्ञानपूर्वक घट को ज्ञात कहने का अर्थ यह नहीं है कि वह सम्पूर्णतः ज्ञात हो गया है। इसके विपरीत घट को ज्ञात अंशों से ही ज्ञात कहा जाता है। तथा वह अपने अज्ञात धर्मों

की अपेक्षा अज्ञात भी रहता है।⁸ अवगृहीत पदार्थ के इस ज्ञाताज्ञात स्वरूप के ज्ञात होने के कारण ही उसके विशिष्ट स्वरूप के प्रति ईहापूर्वक आवाय, धारणारूप ज्ञान की उत्पत्ति होती है जो न केवल ज्ञेय पदार्थ के अनेक क्षणव्यापी एक अस्तित्व को बल्कि ज्ञान के एकानेकात्मक स्वरूप को भी सिद्ध करती है।⁹

अकलंकदेव का द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को ज्ञान का विषय कहने से क्या आशय है, यह समझने के लिए हम शब्द प्रमाण के स्वरूप पर विचार करें। भाषा द्वारा एक वस्तु क्रमिक रूप से एक-एक वाक्य द्वारा उसकी एक-एक विशेषता के ज्ञानपूर्वक ज्ञात होती है। वस्तु की एक विशेषता नाम, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा अन्य सबसे भिन्न और अपने आप में परिपूर्ण होते हुए भी सत्तापेक्षया अपने आप में अपूर्ण होती है। इस अपेक्षा से उसका पूर्ण स्वरूप उसका आश्रयभूत सम्पूर्ण द्रव्य अर्थात् द्रव्य के अन्य समस्त गुण हैं। गुण और गुणी में विद्यमान इस भेदाभेद सम्बन्ध के कारण एक वाक्य द्वारा ज्ञात हो रहे द्रव्य के एक गुण के प्रति अनेक जिज्ञासाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन जिज्ञासाओं की शान्ति हेतु किये गये प्रयत्न से वस्तु के अनेक नवीन गुणों का ज्ञान होता है, जो वस्तु के ज्ञान में मात्र वृद्धि ही नहीं करता बल्कि वस्तु की पूर्वज्ञात विशेषताओं की समझ को भी और अधिक वैशिष्ट्य और स्पष्टता प्रदान करता हुआ परिष्कृत करता है। आचार्य उमास्वामी कहते हैं - "सत् होना द्रव्य का लक्षण है"¹⁰ 'सत्' का अर्थ है 'है', 'सद्भाव', अस्तित्वरूपता तथा इस धर्म का प्रयोजन है धर्मों को सद्-स्वरूपता प्रदान करना, उसके सद्भाव या होने का ज्ञान कराना। इसलिये उपर्युक्त वाक्य - "सत् होना द्रव्य का लक्षण है" से यह ज्ञान होता है कि 'द्रव्य है' या जो भी है उसे द्रव्य कहा जाता है। इस लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा अस्तित्व गुण के अपने आप में परिपूर्ण होने पर भी सत्तापेक्षया वह अपने आप में अपूर्ण है और इसलिये उसके प्रति यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि सत् होने का अर्थ क्या है, जो है वह मात्र एक क्षणस्थायी है, शाश्वत है या परिणामी नित्य? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं - जो सत् है वह उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त है।¹¹ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तता को द्रव्यत्व गुण कहा जाता है। उपर्युक्त दोनों वाक्य सत्त्व और द्रव्यत्व में परस्पर विशेष्य-विशेषण भाव को सिद्ध करते हुए 'सत्तात्मक द्रव्य' या 'द्रव्यत्वमय सत्ता' रूप विशिष्ट बुद्धि को उत्पन्न करते हैं जो सत्त्व और द्रव्यत्व धर्मों के पारस्परिक तादात्म्य सम्बन्धपूर्वक उनकी एक धर्मरूपता का परिचायक है। इनमें एकल होने पर भी अनेकता विद्यमान है जिसके कारण सत्त्व के ज्ञात होने पर भी द्रव्यत्व अज्ञात रहता है तथा उसे जानने के लिए अन्य ज्ञान की सहायता लेनी पड़ती है। द्रव्यत्वरूपता भी सत्ता का पूर्ण स्वरूप नहीं होने के कारण उसके प्रति पुनः जिज्ञासा होती है कि यह द्रव्यत्वमयसत्ता सामान्य रूप है, विशेष रूप है या सामान्यविशेषात्मक? इसके उत्तर में शब्द प्रमाण द्वारा उसका सामान्यविशेषात्मक स्वरूप या वस्तुत्व गुण ज्ञात होता है यह द्रव्यत्व-वस्तुत्वमय सत्ता प्रमेय है या नहीं, उसके परिमाण में न्यूनाधिकता सम्भव है या नहीं जैसे प्रश्नों के उत्तर में सत्ता के प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व आदि गुण ज्ञात होते हैं। मानवीय ज्ञान की यह सक्रिय और अन्वेषणात्मक, दूसरे शब्दों में उपयोगात्मक, प्रक्रिया अन्तहीन है। जैसे-जैसे मानव के ज्ञान

में वृद्धि होती जाती है उसकी जिज्ञासाएँ भी बढ़ती जाती हैं जो न केवल एक वस्तु की अनेक धर्मात्मकता को बल्कि उसकी अनन्तधर्मात्मकता को सिद्ध करती हैं। इसलिये आचार्य विद्यानन्दि कहते हैं - “जीवादि धर्मी अनन्त धर्मात्मक है अन्यथा उनमें प्रमेयत्व का होना असम्भव है।”¹²

उपर्युक्त अनुमान “जीवादि धर्मी अनन्तधर्मात्मक हैं क्योंकि वे प्रमेय हैं” में जीवादि धर्मी ज्ञेय है। उनके एक धर्म ‘प्रमेयत्व’ को हेतु बनाकर उनकी अनन्तधर्मात्मकता को सिद्ध किया जा रहा है। प्रश्न उठता है कि यह प्रमेयत्व धर्म स्वयं प्रमेय (ज्ञेय) है अथवा नहीं? यदि वह स्वयं अज्ञात हो तो उसके द्वारा कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि वह स्वयं प्रमेय है तो वह स्वयं अनन्तधर्मात्मक है अथवा नहीं है। यदि नहीं है तो वह व्यभिचार दोष से ग्रस्त होगा क्योंकि प्रमेयत्व हेतु स्वयं एकस्वभावी होने पर भी ज्ञात हो रहा है और इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि जो भी प्रमेय है वह अनन्तधर्मात्मक है। यदि प्रमेयत्व हेतु को अनन्तधर्मात्मक स्वीकार किया जाय तो अभी तक किसी भी वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता सिद्ध नहीं हो पाने के कारण यह साध्यसम हेत्वाभास हो जायेगा तथा इसके द्वारा कुछ भी सिद्ध नहीं हो पायेगा। फिर एक धर्म को भी अनन्तधर्मात्मक स्वीकार करने पर उन धर्मों के भी अनन्तधर्म और उन धर्मों में भी प्रत्येक धर्म के अनन्तधर्म स्वीकार करने पड़ेंगे। इस प्रकार एक धर्म को अनन्तधर्मात्मक स्वीकार करने पर अनवस्था दोष आता है।

उपर्युक्त आपत्तियों का उत्तर देते हुए आचार्य विद्यानन्दि कहते हैं कि इस अनुमान में व्यभिचार दोष नहीं है क्योंकि कोई भी धर्म सदैव धर्म ही नहीं रहता। सत्त्वादि कोई भी धर्म अपने धर्मी की अपेक्षा ही धर्म होता है तथा स्वयं के अन्य धर्मों की अपेक्षा वह स्वयं अनन्त धर्मात्मक धर्मी भी होता है। ऐसा मानने पर अनवस्था दोष भी नहीं आता; क्योंकि एक वस्तु के विभिन्न धर्मों में धर्म-धर्मी भाव अभव्य के संसार के समान अथवा एक घूमते हुए वलय के पूर्वापर भाग के समान अनादि-अनन्त तथा अनवस्थित है।¹³ जिस प्रकार एक अभव्य के संसार का न तो आदि है न अन्त अथवा जिस प्रकार एक घूमते हुए वलय का एक भाग सामने आने पर पूर्व भाग तथा वही भाग पीछे चले जाने पर अपर भाग हो जाता है उसी प्रकार एक वस्तु के समस्त धर्मों में परस्पर धर्म-धर्मी भाव अनवस्थित और अनादि-अनन्त हैं। उसकी किसी भी विशेषता को विशेष्य बनाये जाने पर अन्य सभी विशेषताएँ उसका विशेषण हो जाती हैं। उदाहरण के लिये यदि आत्मा के अस्तित्व गुण को विशेष्य बनाया जाए तो वस्तुत्व, द्रव्यत्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि समस्त विशेषताएँ उसका विशेषण हो जाती हैं। ऐसा इसलिये होता है कि एक द्रव्य का कोई भी गुण पूर्णतया सामान्य रूप, निर्गुण और एकरूप नहीं होता बल्कि वह अपने आश्रय के विशिष्ट स्वरूप के अनुसार विशिष्ट स्वरूप लिये हुए होता है। उदाहरण के लिये अस्तित्व गुण जड़-चेतन आदि समस्त द्रव्यों को समान रूप से सत्स्वरूपता प्रदान न करके उनके विशिष्ट स्वरूप के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में अस्तित्वमयता प्रदान करता है। आत्मा का अस्तित्व गुण उसे चेतन द्रव्यरूप में ही सत्स्वरूपता प्रदान कर रहा है। वह उसे परिणामी नित्य सामान्य-विशेषात्मक ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमय स्वरूप में अस्तित्वमान बना रहा है। यदि इनमें से एक

भी गुण का अभाव हो तो आत्मा का सद्भाव भी नहीं रहेगा। जैसे - यदि आत्मा में वीर्य गुण नहीं हो तो उसमें सक्रियता और इसलिये जानने-देखने हेतु प्रयत्नपूर्वक व्यापाररूप उपयोगात्मकता का अभाव हो जायेगा। ऐसी स्थिति में जब ज्ञान-दर्शन ही नहीं रहेंगे तो परिणामी नित्यतारूप द्रव्यत्व, सामान्यविशेषात्मकरूप वस्तुत्व किसका होगा? इस प्रकार आत्मा का अस्तित्व गुण अन्य द्रव्यों से भिन्न एक विशिष्ट प्रकार का अस्तित्व है। उसके अस्तित्व गुण का विशिष्ट स्वरूप सम्पूर्ण आत्मा अर्थात् आत्मा के समस्त गुण हैं। इसी प्रकार द्रव्यत्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि समस्त गुणों का विशिष्ट स्वरूप उनका आश्रयभूत सम्पूर्ण द्रव्य है। एक द्रव्य के समस्त गुणों के परस्पर एक-दूसरे का स्वरूप होते हुए एक द्रव्यरूपता को प्राप्त होने तथा सम्पूर्ण द्रव्य के एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक स्वरूपमय होने के कारण एक द्रव्य के प्रत्येक गुण का विशेषण उस द्रव्य के अन्य समस्त गुण होते हैं। इसलिये एक द्रव्य के कुछ गुणों का ज्ञान उस द्रव्य का ही नहीं उसके ज्ञात गुणों का भी आंशिक ज्ञान है। जब द्रव्य का कोई नवीन गुण ज्ञात होता है तो वह द्रव्य के ज्ञान में ही वृद्धि नहीं करता बल्कि द्रव्य के पूर्व ज्ञात गुणों का भी विशेषण होता हुआ, उनके ज्ञान को अधिक और परिष्कृत करता हुआ, भेदाभेदात्मक रूप से ज्ञात होता है।

प्रत्यक्ष द्वारा एक समय में एक वस्तु के जितने भी गुण ज्ञात होते हैं वे परस्पर धर्मधर्म्यात्मक स्वरूप में ही ज्ञात होते हैं, लेकिन भाषा के प्रयोगपूर्वक होनेवाले ज्ञान में गुण को गुणी से पृथक् करके जाना जाता है जो स्याद्वादनय संस्कृत रूप से वस्तु को ग्रहण करने पर ही यथार्थ हो सकता है। अकलंकदेव कहते हैं श्रुतज्ञान के स्याद्वाद और नयरूप दो उपयोग हैं, स्याद्वाद सकलादेशी और इसलिये प्रमाण ज्ञान है तथा नय विकलादेशी या वस्तु का आंशिक ज्ञान है।¹⁴ प्रमाण द्वारा प्रकाशित वस्तु के एकांश को जाननेवाला ज्ञान नय कहलाता है।¹⁵ स्याद्वाद प्रमाणात्मक होता है¹⁶ तथा स्याद्वाद से प्रभिव्यक्त अर्थात् विशेषित वस्तु के विशेष अंश का व्यंजक या प्ररूपक ज्ञान नय कहलाता है।¹⁷ प्रत्येक नय-वाक्य के पूर्व वस्तु के अनेकात्मक स्वरूप के द्योतक 'स्यात्' शब्द का होना आवश्यक है।¹⁸ इस पद के द्वारा सामान्य रूप से वस्तु के द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप के ग्रहणपूर्वक उसके एक अंश को विशेषरूप से जाननेवाला नयात्मक ज्ञान ही यथार्थ हो सकता है। इस प्रकार श्रुतज्ञान द्वारा भी पदार्थ स्याद्वादनय संस्कृत रूप से ग्रहण किये जाने पर धर्मधर्म्यात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप में ज्ञात होता है।

“जो भी ज्ञेय है वह अनन्तधर्मात्मक है” इस व्याप्ति में व्यभिचार दोष का निराकरण करते हुए अन्त में आचार्य विद्यानन्दि कहते हैं कि जीवादि धर्मों से अलग किया गया प्रमेयत्व धर्म नय-ज्ञान का विषय है तथा नय-ज्ञान के प्रमाणांश होने के कारण इस ज्ञान के विषय के रूप में वह स्वयं प्रमेय या अप्रमेय न होकर प्रमेयांश है। अतः नय-ज्ञान के विषय के रूप में वह स्वयं की अनन्तधर्मात्मकता को सिद्ध न करके जीवादि धर्मों की अनन्तधर्मात्मकता को ही सिद्ध करता है। लेकिन यही हेतु स्वयं प्रमाण ज्ञान के विषय के रूप में जीवादि धर्मों की ही नहीं स्वयं की अनन्तधर्मात्मकता को भी सिद्ध करता है।¹⁹

बौद्ध कहते हैं कि एक निरंश सत्ता में सत्व, द्रव्यत्व आदि अनेक धर्मरूप भेद वास्तविक न होकर मात्र शाब्दिक और बुद्धिजनित होने के कारण अनादि वासनाजनित मानसिक कल्पनामात्र है। वस्तुतः पदार्थ पूर्णतया एकस्वभावी ही होता है तथा वह प्रत्यक्ष द्वारा सम्पूर्णतः ही ज्ञात होता है।²⁰ उस सम्पूर्णतः जान लिये गये पदार्थ में किसी प्रकार भ्रम उत्पन्न हो जाने पर उसके निवारण के लिए अनुमान की प्रवृत्ति होती है जिसमें पदार्थ के प्रति धर्म-धर्मरूप भेद का आरोप करके उसका अनेक रूपों में निश्चय किया जाता है।²¹ प्रत्यक्ष द्वारा पदार्थ की नीलरूपता का निश्चय हो जाने पर भी उसकी अनित्यता के प्रति भ्रम उत्पन्न हो जाता है जिसके निराकरण के लिए नील के अस्तित्व धर्म को स्वभाव हेतु बनाकर उसकी अनित्यता को और अनित्यता को स्वभाव हेतु बनाकर उसकी कृतकता को सिद्ध किया जाता है। लेकिन विभिन्न ज्ञानों के द्वारा पदार्थ के सत्व, अनित्यत्व, कृतकता आदि की सिद्धि का उद्देश्य पदार्थ की वस्तुभूत अनेकस्वभावता को सिद्ध न करके उसे मात्र असत्, नित्य, कृतक आदि विजातीय पदार्थों से पृथक् कर उसके प्रति अज्ञान की निवृत्ति करना है।²² इस धर्म-धर्म भाव से युक्त सविकल्पक ज्ञान में पदार्थ के यथार्थ एकस्वभावी स्वरूप को जानने की सामर्थ्य नहीं है। उसका ज्ञान तो इन्द्रियार्थ सन्निष्कर्ष के प्रथम क्षण और योगि प्रत्यक्ष की अवस्था में होनेवाले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है। बौद्धों के समान ही अद्वैत वेदान्ती भी कहते हैं कि सत्ता पूर्णतया अखण्ड और एकस्वभावी ही होती है तथा उसके इस यथार्थ स्वरूप का ज्ञान समाधि की अवस्था में होनेवाले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा होता है। सविकल्पक ज्ञान उस अखण्ड सत्ता में धर्म-धर्म भेद का आरोप करके उसे अनेक रूपों में जानता है तथा उसमें इन भेदों से परे सत्ता के भूखण्ड स्वरूप को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं है, इसलिये यह ज्ञान मिथ्या है। इसका महत्व सिर्फ इतना है कि इसमें सत्ता के स्वरूप-बोध की सामर्थ्य का अभाव होने पर भी उसके प्रति अस्वरूप की निवृत्ति की सामर्थ्य है। सविकल्पक ज्ञान नेति-नेति अर्थात् वस्तु यह नहीं है, यह नहीं है रूप से वस्तु के प्रति अज्ञान को समाप्त कर देता है। इसके पश्चात् ही सत्ता के अद्वैत स्वरूप की साक्षात्कारात्मक निर्विकल्पक ज्ञानरूप समाधि की अवस्था की प्राप्ति सम्भव है। इस प्रकार बौद्ध और अद्वैत वेदान्त दोनों के अनुसार वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप का प्रतिपादक सविकल्पक ज्ञान वस्तु के प्रति अज्ञान निवृत्तिरूप निषेधात्मक कार्य ही करता है तथा वस्तु के निरंश और एकस्वभावी स्वरूप का ज्ञान तो समाधि की अवस्था में होनेवाले निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा ही संभव है।

जैन दार्शनिक बौद्ध और अद्वैत वेदान्त के इस मत से सहमत हैं कि सत्ता सम्पूर्णतः एकस्वभावी ही होती है तथा उसमें अनेक धर्मरूप भेद भाषाजनित हैं। आत्मा सम्पूर्णतः एकस्वभावी सत्ता ज्ञानस्वभावी सत्ता है तथा वह ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ध्यान का विषय स्वयं का ऐसा शुद्ध ज्ञायक स्वरूप ही होता है। आचार्य कुन्दकुन्द जीव के सर्वभेदरहित शुद्ध ज्ञायक भाव को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं, “जो यह ज्ञायक भाव है वह न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त बल्कि यह शुद्ध ज्ञायक स्वरूप ही है; व्यवहारनय से ही ज्ञानी के चारित्र है, ज्ञान है; लेकिन निश्चयनय से ज्ञानी के न तो चारित्र है, न दर्शन है, न ज्ञान है; बल्कि वह शुद्ध ज्ञायक

भावरूप है।¹²³ ये पद यह प्रतिपादित करते हैं कि चैतन्यतत्त्व पूर्णतया एकस्वभावी तत्त्व - ज्ञानस्वभावी तत्त्व है; लेकिन यह ज्ञानस्वभावी तत्त्व शुद्ध निर्विशेष ज्ञानस्वरूप न होकर विशिष्ट प्रकार की सत्ता है तथा उसके विशिष्ट स्वरूप के नियामक उसके अनेक धर्म हैं जो ज्ञान और भाषा में पृथक् किये जाने योग्य होने पर भी तत्त्वतः अपृथक् हैं। इसलिये अमृतचन्द्राचार्य के अनुसार “इस साधक भाव का अनुभव करने वाले प्रत्यगात्मा अनन्तधर्मात्मक तत्त्व को ही देखते हैं।”¹²⁴ अन्यत्र वे कहते हैं निश्चयनय से अनन्तधर्मात्मक एक धर्मी को जिसने नहीं जाना ऐसे शिष्यों के लिए भाषा द्वारा धर्म को धर्मी से पृथक् करते हुए आचार्य कहते हैं कि यद्यपि धर्म और धर्मी का स्वभाव से अभेद है तो भी नाम से भेद होने के कारण व्यवहारमात्र से ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। परन्तु परमार्थ से देखा जाय तो एक द्रव्य द्वारा पीये गये अनन्तपर्यायरूपों के किंचित मिले हुए अभेद स्वभाव वस्तु को अनुभव करनेवाली पण्डित पुरुषों की दृष्टि में दर्शन भी नहीं, ज्ञान भी नहीं, चारित्र भी नहीं, शुद्ध एक ज्ञायक भाव ही है।¹²⁵ “वस्तुतः दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीन अलग तत्त्व न होकर एक ज्ञान ही हैं। जीवादि पदार्थों के यथार्थ श्रद्धान (अनुभूति, प्रतीति) रूप से ज्ञान का परिणमन सम्यग्दर्शन है। जीवादि पदार्थों के ज्ञान (निश्चय) स्वभाव से ज्ञान का होना ज्ञान है तथा रागादिरहित स्वभाव से ज्ञान का होना सम्यक्चारित्र है।”¹²⁶

एक ज्ञानमय तत्त्व का अस्तित्व उसके अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनेक स्वभावमय होने पर ही सम्भव है। ये सभी स्वभाव ज्ञान के विशेषण होने तथा परस्पर संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन से भिन्न-भिन्न होने पर भी तादात्म्य सम्बन्ध से सम्बन्धित होने के कारण एक ज्ञान ही है। (जिस प्रकार यह सत्ता पूर्णतया एकस्वभावी-ज्ञानस्वभावी है। उसी प्रकार यह पूर्णतया एकस्वभावी दर्शनस्वभावी या वीर्यस्वभावी आदि भी है। इन अनेक स्वभावों की एक ज्ञानरूपता होने पर भी इनकी स्वभावगत अनेकता वास्तविक है तथा इनमें से किसी भी गुण के सद्भाव-अभाव में इस सत्ता का सम्पूर्ण स्वरूप बदल जाता है। ज्ञान के वीर्यात्मक होने पर वह परिणामी-नित्य, सामान्य-विशेषात्मक, कर्ता, उपयोगमय, सविषयक चेतनारूप आत्मा होगा। लेकिन यदि उसे वीर्य रहित स्वीकार किया जाए तो वह निष्क्रिय होने के कारण कूटस्थ-नित्य, सदैव एकरूप, अकर्ता, साक्षी-भावमय निर्विषयक चेतना होगा। ऐसा तत्त्व सार्वभौमिक होने पर अद्वैत वेदान्त द्वारा मान्य ब्रह्म और वैयक्तिक होने पर सांख्य दर्शन द्वारा स्वीकृत पुरुष होगा। ज्ञानमय तत्त्व के इन अनेक स्वभावमय विशिष्ट स्वरूप को बौद्धिक कल्पनाजनित शब्दमात्र नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन्हें वास्तविक स्वीकार करके ही विभिन्न दार्शनिक अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत सत्ता के स्वरूप का निषेध और स्वयं द्वारा मान्य स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। साथ ही इसके विशेष प्रकार के स्वरूप की स्वीकृति चेतना के वर्तमान स्वरूप और उनके चरम लक्ष्य को भी प्रभावित करती है। एक उपयोगात्मक चेतना का आराधक ज्ञानार्जन के प्रति सदैव उत्साही होता है जबकि साक्षीभाव रूप चेतना का आराधक उसके प्रति उदासीन हो जाता है। प्रथम का आदर्श सर्वज्ञता तथा द्वितीय का चरम लक्ष्य निर्विषयक चेतना होती है। इस प्रकार एक सत्ता शुद्ध सत्ता मात्र न होकर विशिष्ट प्रकार की सत्ता है तथा उसके वैशिष्ट्य के नियामक सत्तापेक्षया परस्पर अपृथक् अनेक वास्तविक स्वभाव हैं।

अकलंकदेव ज्ञेय पदार्थ के एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक स्वरूप के कारण ज्ञान के धर्मधर्म्यात्मक सविकल्पक स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि ज्ञान का आकार सदैव “वस्तु का यही स्वरूप है, अन्य नहीं”, रूप सविकल्पक ज्ञानरूप ही होता है। यदि ऐसा न मानकर सत्ता को पूर्णतया एकस्वभावी और निरंश ही स्वीकार किया जाए तथा यह कहा जाए कि समाधि की अवस्था निर्विकल्पक ज्ञानस्वरूप है, इस अवस्था में शुद्ध निर्विशेष स्वसंवेदन रूप सत्ता ज्ञात होती है और यदि यही ज्ञान यथार्थ है तो इस अवस्था को प्राप्त कर चुके बुद्ध, शंकर आदि सभी दार्शनिक तत्त्वदर्शी होने चाहिये और उनके मध्य विद्यमान सभी विवाद समाप्त हो जाने चाहिये²⁷ साथ ही किसी भी प्रकार की विशेषताओं से रहित स्वसंवेदनात्मक सत्ता के वचनातीत होने के कारण उन्हें मौन धारण कर लेना चाहिए। लेकिन इसके विपरीत यह दोनों ही सत्ता के विशिष्ट स्वरूप को स्वीकार करते हुए एक-दूसरे के मत का खण्डन करते हैं। बुद्ध इस स्वसंवेदनात्मक सत्ता के नित्यत्व, सर्वव्यापकत्व आदि के खण्डनपूर्वक उसके वैयक्तिक, क्षणिक और विशिष्ट स्वरूप का तथा शंकर उसकी अनित्यता आदि के खण्डनपूर्वक उसकी नित्यता आदि विशेषताओं से परिपूर्ण स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। उनका यह कार्य यह सिद्ध करता है कि उनकी समाधि की अवस्था शुद्ध निर्विशेष पूर्णतया एकस्वभावी स्वसंवेदन रूप नहीं है, बल्कि इस अवस्था में विशिष्ट स्वरूप-सम्पन्न स्वसंवेदन का बोध हुआ है जो समाधि की अवस्था को धर्मधर्म्यात्मक सविकल्पक ज्ञानरूप सिद्ध करता है।

वादिपराज मुनिराज कहते हैं कि वस्तुतः आत्मस्वरूप की भावनारूप सविकल्पक ज्ञान के चरम प्रकर्षरूप समाधि की अवस्था सविकल्पक ज्ञान ही होती है, निर्विकल्पक नहीं हो सकती।²⁸ एक मुमुक्षु व्यक्ति श्रवण, मनन और निधिध्यासन की प्रक्रिया द्वारा समाधि की अवस्था को प्राप्त करता है। गुरु के वचनों द्वारा आत्मस्वरूप की जानकारी प्राप्त कर व्यक्ति उसका निरन्तर मनन करता है। बार-बार के मननपूर्वक व्यक्ति की तदनुरूप अनुभूति निरन्तर अधिक गहन होती जाती है जिसके परिणामस्वरूप अन्त में इसके चरम प्रकर्षरूप समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। एक बौद्ध निरन्तर अपने क्षणिक, वैयक्तिक, पूर्णतया विशिष्ट, विज्ञानमय एकानेकात्मक भेदाभेदात्मक स्वरूप का मनन करता है। इस स्वरूप की बार-बार भावना से उसकी स्वयं के अन्य सबसे पूर्णतया पृथक् प्रतिक्षण परिवर्तनशील चैतन्यस्वरूप की अनुभूति निरन्तर अधिक गहरी होती जाती है और अन्त में इस स्वरूप की शब्दरहित तथा गहन अनुभूतिरूप समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। इसी प्रकार एक वेदान्ती गुरुपदेशपूर्वक स्वयं के ब्रह्मस्वरूप को जानकर निरन्तर यह मनन करता है कि “मैं ब्रह्म हूँ”। इसके फलस्वरूप उसे स्वयं के सार्वभौमिक, कूटस्थनित्य, साक्षीरूप सच्चिदानन्द स्वरूप की क्रमशः अधिक गहन अनुभूति होते हुए अन्त में इस अनुभूति के चरम प्रकर्षरूप समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार समाधि की अवस्था शुद्ध निर्विशेष स्वसंवेदन मात्र न होकर विशिष्ट प्रकार की स्वानुभूति है जो इस अवस्था में ज्ञात हो रहे तत्व को एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक स्वरूप को सिद्ध करती है। श्रवण, मनन, निधिध्यासन की प्रक्रियापूर्वक समाधि की अवस्था की प्राप्ति न केवल एक सत्ता के अनेक गुणात्मक स्वरूप को बल्कि उसके अनेक क्रमभावी विशेष पर्यायों में व्याप्त एक अस्तित्व को भी सिद्ध करती है।

जिस प्रकार हमें अनेक गुणों के ज्ञानपूर्वक एक द्रव्य का और द्रव्य के ज्ञानपूर्वक उसके एक गुण के विशिष्ट स्वरूप का ज्ञान होता है उसी प्रकार हम अनेक अवयवों के ज्ञानपूर्वक एक अवयवी को जानते हैं तथा जैसे-जैसे अवयवी की समझ में वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे उसके अवयवों की समझ भी अधिक विकसित और परिष्कृत होती जाती है। जो एक स्थूल वस्तु के अवयव-अवयव्यात्मक स्वरूप को सिद्ध करती है। बौद्ध कहते हैं कि अनेक अवयव ही वास्तविक और स्वतंत्र सत्ताएँ हैं। उन अनेक अवयवों का एक अवयवीरूप में होनेवाला ज्ञान अनादि वासनाजनित मानसिक कल्पनामात्र होने के कारण मिथ्या है। जिस प्रकार दूर से देखने पर विरल केशों में घनाकारता का भ्रामक प्रतिभास होता है उसी प्रकार हम परस्पर स्वतंत्र अनेक परमाणुओं में निकटता और सादृश्य के कारण एकत्व का आरोप करके उन्हें एक अवयवी घट, वस्त्र आदि रूप में पहचानते हैं। वस्तुतः घट, वस्त्र आदि स्थूल पदार्थ वास्तविक पदार्थ न होकर अनेक परमाणुओं के समूह पर आरोपित एक नाममात्र है और इसलिये इन्हें जाननेवाला ज्ञान मिथ्या है। वादिराज मुनिराज बौद्धों के इस मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि बौद्ध स्थूल वस्तु के खण्डन के लिए प्रस्तुत किये गये अनुमान में विरल केशों में भ्रामक घनाकारता का दृष्टान्त देते हैं। केशों में घनाकारता का ज्ञान तभी भ्रामक हो सकता है जबकि उनकी विरलता का ज्ञान यथार्थ हो तथा उनकी विरलता का ज्ञान तभी यथार्थ हो सकता है जबकि विरलता के अधिष्ठान केशों का ज्ञान यथार्थ हो जो स्वयं स्थूल वस्तुरूप है। यदि केश-ज्ञान यथार्थ है तो स्थूल वस्तु का खण्डन नहीं किया जा सकता। यदि वह मिथ्या है तो उसके द्वारा कुछ सिद्ध नहीं किया जा सकता।²⁹ निश्चित रूप से एक अवयवी अपने अवयवों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। लेकिन वह अपने अवयवों का समूहमात्र न होकर उनमें व्याप्त एक अखण्ड सत्ता है। संयोग-सम्बन्ध से सम्बन्धित अनेक अवयव परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित और प्रभावित होकर एक अवयवीरूपता को प्राप्त करते हैं। इस अवस्था में वे एक ऐसे विशिष्ट स्वरूप को प्राप्त करते हैं जिसका उनमें अन्यथा अभाव होता है। उदाहरण के लिए विभिन्न तन्तुओं में ओढ़ने-बिछानेरूप कार्य को करने की सामर्थ्य का अभाव होता है लेकिन वे ही तन्तु जब परस्पर आतान-वितानरूप से संयुक्त होकर एक वस्त्ररूप विशिष्ट स्वरूप को प्राप्त करते हैं तो उनमें यह नवीन सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार वस्त्र के अनेक तन्तुओं के समूह पर आरोपित सत्ता एक नाममात्र न होकर वास्तविक सत्ता होने के कारण विशिष्टरूप से संयुक्त अनेक तन्तुओं के ज्ञानपूर्वक होनेवाला एक वस्त्र का ज्ञान यथार्थ ज्ञान है।³⁰

एक ज्ञेय पदार्थ के अवयव-अवयव्यात्मक स्वरूप को स्पष्टतः समझने के लिए हम शरीर के दृष्टान्त पर विचार करें। हाथ, पैर, सिर, हृदय आदि अनेक अंग एक विशेष प्रकार से संयुक्त होकर एक जटिल संघटन शरीररूपता को प्राप्त करते हैं। इस संघटन के सभी अंगों का अपना-अपना निश्चित और विशिष्ट स्वरूप होता है, अपनी-अपनी शक्तियाँ और उपयोगिताएँ होती हैं, लेकिन ये अपने इस विशिष्ट स्वरूप को शरीर के एक अंग के रूप में ही अर्थात् शरीर के अन्य अंगों से सम्बन्धित और प्रभावित होकर ही प्राप्त करते हैं तथा शरीर से अलग हो जाने पर इनका इस विशिष्ट स्वरूप में अस्तित्व समाप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए हाथ का अपना एक निश्चित आकार होता है। वह वस्तुओं को उठाने, रखने आदि कार्यों को करने की क्षमता से युक्त होता

है, उसमें सजीवता, रक्त का संचार आदि विशेषताएँ होती हैं लेकिन हाथ अपने इस विशिष्ट स्वरूप में अस्तित्व शरीर के अंग के रूप में ही रखता है। शरीर से पृथक् हो जाने पर उसका इस विशिष्ट स्वरूप से अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इस प्रकार हाथ, पैर आदि विभिन्न अंगों के शरीर के एक अंग के रूप में ही एक विशिष्ट स्वरूप में अवस्थित होने के कारण इन अंगों के ज्ञानपूर्वक शरीर ही आंशिक रूप से ज्ञात होता है तथा शरीर के समस्त अंगों के ज्ञात होने पर शरीर ही सम्पूर्णतः ज्ञात कहलाता है।

क्योंकि एक अवयव अपने विशिष्ट स्वरूप को अवयवी के एक अंग के रूप में ही अर्थात् सम्पूर्ण अवयवों से सम्बन्धित और प्रभावित होकर ही प्राप्त करता है इसलिये न केवल अवयवों के ज्ञान में वृद्धि के साथ ही साथ अवयवी के ज्ञान में वृद्धि होती जाती है बल्कि अवयवी के ज्ञान में हो रहा विकास उसके विभिन्न अवयवों के ज्ञान को भी अधिक परिष्कृत और समृद्ध करता है। अवयवी के प्रति अब तक अर्जित जानकारी अनेक नयी जिज्ञासाओं को जन्म देती है जिसके समाधान हेतु किये गये प्रयत्नपूर्वक अर्जित नवीन विशेषताओं का ज्ञान सम्पूर्ण अवयवी के ज्ञान को अधिक स्पष्टता प्रदान करता है। जैसे शरीर के हाथ, पैर आदि विभिन्न अवयवों का निर्माण एक निश्चित व्यवस्था के अनुसार ही क्यों होता है, विभिन्न व्यक्तियों का रंग, स्वभाव आदि में अन्तर क्यों पाया जाता है, दुनिया में कोई भी दो व्यक्ति पूर्णतया समान क्यों नहीं होते, आदि प्रश्नों के समाधानार्थ खोजे गये शरीर के अवयव - जीन्स न केवल शरीर के सम्बन्ध में हमारी जानकारी में वृद्धि करते हैं बल्कि ये शरीर और उसके अवयवों के सम्बन्ध में हमारे पूर्वाजित ज्ञान को अधिक स्पष्टता और वैशिष्ट्य भी प्रदान करते हैं। यह ज्ञेय पदार्थ के अवयव-अवयव्यात्मक स्वरूप को सिद्ध करता है।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा एक स्थूल वस्तु अवयव-अवयव्यात्मक स्वरूप में ही ज्ञात होती है लेकिन जब हम उसे भाषा के माध्यम से समझना चाहते हैं तो यह अवयव और अवयवी को परस्पर अलग करके एक-एक वाक्य में अवयवी के व एक-एक अवयव के पृथक्-पृथक् और क्रमिक वर्णनपूर्वक ही सम्भव हो पाता है। भाषा में यह स्वरूप हममें अनेक बार यह भ्रम पैदा कर देता है कि एक अवयवी अनेक अवयवों का समूह मात्र है अथवा यह कि अवयव आदि धर्म स्वतन्त्र तथा परस्पर निरपेक्ष सत्ताएँ हैं तथा अवयवी आदि धर्मी उनसे भिन्न सत्ता है। इसलिये जैन आचार्यों के अनुसार भाषा द्वारा वस्तु को निर्भ्रान्त तथा यथावस्थित स्वरूप में जानने के लिये वर्णित विषय को स्याद्वादनय संस्कृत रूप में ग्रहण करना आवश्यक है।³¹

आज भौतिक पदार्थों के क्षेत्र में बहुत तेजी से विकास हो रहा है। एक वस्तु के प्रति अब तक अर्जित जानकारी उस वस्तु का अपूर्ण ज्ञान होने के कारण उसके प्रति अनेक नवीन जिज्ञासाएँ उत्पन्न कर देती है, जिनके समाधान हेतु किये गये अन्वेषणों से वस्तु की अनेक नवीन विशेषताएँ ज्ञात होती हैं। जैसे-जैसे मानवीय ज्ञान में वृद्धि होती जाती है मानव की जिज्ञासाएँ भी बढ़ती जाती हैं जो ज्ञेय पदार्थ के द्रव्य-पर्यायात्मक, एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक स्वरूप को सिद्ध करती हैं।

1. प्रत्यक्षलक्षण प्राहुं स्पष्ट साकारं अब्जसा ।
द्रव्य पर्याय सामान्य विशेषात्मार्थ वेदनम् ॥ न्यायविनिश्चय, भाग 1, पृष्ठ 3
2. तत्त्वार्थवार्तिक भाग-2, पृष्ठ - 235
3. वही, भाग-1, पृष्ठ - 256
4. सिद्धिविनिश्चय टीका, पृष्ठ - 375
5. "जैन और न्याय वैशेषिक दर्शन में द्रव्य गुण सम्बन्ध", महावीर जयन्ती स्मारिका, वर्ष 1998,
प्र. राजस्थान जैन सभा, जयपुर
6. न्यायविनिश्चय भाग-1, पृष्ठ - 3
7. तत्त्वार्थवार्तिक भाग-1, पृष्ठ - 182
8. न्यायविनिश्चय, भाग-1, पृष्ठ - 5
9. वही, 11/9
10. सत् द्रव्यलक्षणं, तत्त्वार्थसूत्र, 5/29
11. तत्त्वार्थसूत्र, 5/30
12. धर्मा तावत् अनन्तधर्मा जीवादिः, प्रमेयत्वान्यथानुपवत्ते । अष्टसहस्री, पृष्ठ - 152
13. अनाद्यनन्तत्वात् धर्मधर्मिस्वभाव भेदव्यवहारस्य कलमब भव्यसंसारनद्धा । अष्टसहस्री, पृष्ठ - 152
14. लघीयस्त्रय, 62
15. तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 1, सूत्र 31
16. सिद्धिविनिश्चय, 10/3
17. आप्तमीमांसा, 106
18. "वाक्येष्वनेकान्तद्योती", वही, 103
19. अष्टसहस्री पृष्ठ - 152
20. प्रमाणवार्तिक, 3/43, पूर्वाद्ध
21. वही, मनोरथनन्दि वृत्ति, 3/45
22. वही, मनोरथनन्दि वृत्ति, 3/41
23. समयसार, गाथा - 6 एवं 7
24. अनस्तधर्मणस्तत्त्व पश्यन्ति प्रत्यगात्मनः । समयसार कलश 2, पूर्वाद्ध
25. समयसार, गाथा-7 पर अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका
26. वही, गाथा-155 पर अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका
27. न्यायविनिश्चय भाग - 1, पृष्ठ 62-63
28. वही, भाग-1, पृष्ठ - 20
29. वही, भाग-1, पृष्ठ - 165, 166
30. न्यायकुमुदचन्द्र भाग-1, पृष्ठ - 227
31. विस्तृत विवेचन के लिये देखें -
'जैन दर्शन में प्रमाणनय व्यवस्था', वात्सल्य रत्नाकर, भाग-2
अथवा
'श्रुतज्ञान की स्याद्वादनय संस्कृतता', महावीर जयन्ती स्मारिका, वर्ष - 1989,
प्र. राजस्थान जैन सभा, जयपुर

